प्रकाशकः—

श्री जैन जवाहिर मित्र मंडल

ब्यावर।

श्री फतेहसिंह जैन के प्रबंध से

श्री गुरुकुल प्रिं० प्रेस, ब्यावर.

प्रकाशक का निवेदन

श्री जैन जवाहिर मित्र मण्डल ब्यावर के लिए यह पहला ही अवसर है कि वह स्व० जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के अनमोल व्याख्यान-साहित्य के प्रकाशन मे सक्रिय योग दे रहा है। यह मण्डल वि० सं० २००२ की भाद्रपद शुक्ला पंचमीके दिन, श्री १००८ श्री श्री पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज के चातुर्मासके अवसर पर स्थापित हुआ था। मण्डल ने अपने शैशव काल में ही यह प्रवृत्ति आरभ कर दी है, और वह आशा की जाती है कि यह भविष्य में अधिक सेवा करने योग्य सिद्ध होगा।

श्री जवाहर किरणावली की यह तेरहवीं किरण 'धर्म और धर्म-नायक' है। श्री हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम की ओर से प्रकाशित 'धर्म-व्याख्या' के आधार पर पं० शान्तिलाल व० शेठ न्यायतीर्थ ने इसे गुजराती भाषा में सम्पादित किया था। यह गुजराती का ही हिन्दी अनुवाद है। धर्मव्याख्या हिन्दी में मौजूद रहने पर भी गुज-राती 'धर्म अने धर्मनायक' का हिन्दी में अनुवाद करने की आवश्यकता क्यों प्रतीत हुई ? इस प्रश्न का समाधान इस अनुवाद को आदि से अन्त तक पढ़ जाने पर स्वय हो जाएगा। वस्तुत गुजराती पुस्तक में विवेचनीय विषयों का काफी विस्तार के साथ विवेचन किया गया है और कई-एक महत्वपूर्ण प्रकरण तो एकदम नवीन जोटे गये हैं। इन सब को देखकर और इन्हें सर्व साधारण जनता के हित के लिए आवश्यक समझकर हिन्दी में इसका प्रकाशन उपयोगी जान पड़ा।

भारतवर्ष आज नवीन युग में प्रवेश कर रहा है। राष्ट्र के आंतरिक और बाह्य ढांचे के निर्माण करने का महत्वपूर्ण कार्य आज भारतीयों के सामने है। ऐसे समय पर इस पुस्तक का प्रकाशन हमारी समझ में अत्यन्त उपयोगी है। इसमें ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म तथा संघधर्म आदि के विषय में तथा ग्रामनेता, नगरनेता, राष्ट्रनेता, और संघ नेता आदि के विषय मे जो महत्व पूर्ण विचार पूज्य श्री ने प्रकट किये हैं, वे किसी भी स्वाधीन देश की प्रजा के लिए उपयोगी हो सकते हैं, खासकर भारतवर्ष के लिये तो उपयोगी हैं ही। इस पुस्तक मे विषयों का विवेचन ऐसे विशाल दृष्टिकोण से किया गया है कि जैन अजैन सभी इससे लाभ उठा सकते हैं। ऐसे महत्वपूर्ण विचारों को हिन्दी मे प्रकाशित न करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता था।

हमें खेद है कि अच्छा कागज प्राप्त न हो सकने के कारण पुस्तक की छपाई सुन्दर नहीं हो सकी है। लेकिन विषय की सुन्दरता के आगे छपाई की असुन्दरता के लिये पाठक हमें क्षमा कर देंगे, ऐसी आशा है।

प्रस्तुत किरण श्री जवाहर साहित्य समिति भीनासर (बीकानेर) की ओर से छप रही थी। हमारी माँग पर समिति के माननीय मंत्री और अपनी समाज के उत्साही कार्यकर्ता श्रीमान् सेठ चम्पालालजी सा० बांठिया ने मंडल को प्रकाशनार्थ दे देने की उदारता प्रकट की है। एतदर्थ हम समिति के और श्री बांठियाजी के आभारी हैं। श्री हितेच्छु श्रावक मंडल रतलाम का आभार तो मानना ही चाहिए, जिसके द्वारा प्रकाशित 'धर्मव्याख्या' के आधार पर गुजराती और हिंदी के यह संस्करण तैयार हो सके है।

छपाई की या अन्य किसी प्रकार की त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए सूचना मिलने पर अगले संस्करण में सुधार किया जा सकेगा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मंडल अभी अपने शैशव काल में ही है। विशेष आर्थिक बोझ उठाने की उसकी शक्ति नहीं है। अतएव आशा है कि समाजप्रेमी सज्जन अपने सहयोग से मण्डल को उपकृत करते रहेंगे और कार्यकर्ताओं का उत्साह बढ़ाएँगे।

निवेदक:-
लाभचन्द बांठिया
सभापति,
श्री जैन जवाहिर मित्र मंडल, ब्यावर।

रक्षा-बन्धन
वि सं.२००४

विषयसूची

धर्म और धर्मनायक

किसी भी मकान या महल की मजबूती उसकी पुख्ता नींव पर अवलंबित है। इसी लिए मकान बनाते समय गहरी से गहरी और पुख्ता से पुख्ता नींव डाली जाती है।

मानव-जीवन यदि मकान के समान है तो धर्म उसकी नींव है। बिना धर्म के मानव-जीवन टिक नहीं सकता। अर्थात् धर्म के अभाव में जीवन मानव-जीवन न रह कर पाशविक जीवन बन जाता है। अतः जीवन को उत्तम मानवीय जीवन बनाने के लिए धर्म रूपी नींव गहरी और पुख्ता बनाने की आवश्यकता है। धर्म रूपी नींव यदि कच्ची रहेगी तो मानव-जीवन रूपी मकान शंका, कुतर्क, अज्ञान, अनाचार और अधर्म आदि के तूफानों में हिल जाएगा और उसका पतन हुए बिना न रहेगा।

मकान की नींव मजबूत बनाने के लिए जैसे पानी की, चूने की, रेती की, सीमेंट की आवश्यकता है, उसी प्रकार पलस्तर की और रंग रोगन आदि की भी अनिवार्य आवश्यकता रहती है।

इसी प्रकार मानव-जीवन रूप मकान की नींव की मजबूती के लिए सभ्यता-संस्कृति, नागरिकता, राष्ट्रीय भावना, धार्मिकता कुलीनता, सामूहिकता तथा एकता आदि लौकिक धर्मों के पालन की सर्वप्रथम आवश्यकता है। तत्पश्चात् धर्म को जीवनधर्म बनाने के लिए विचारशीलता क्रियाशीलता आदि लोकोत्तर धर्मों के पालन की भी अनिवार्य आवश्यकता रहती है।

इस प्रकार जब लौकिक और लोकोत्तर धर्मों का ठीक तरह समन्वय करके पालन किया जाता है तब मानव जीवन का असली उद्देश्य- मोक्ष - सिद्ध होता है।

लौकिक धर्मों का भलीभांति पालन किये बिना लोकोत्तर धर्मों का पालन करना ऐसा ही है जैसे सीढ़ियों के बिना ऊंचे महल मे प्रवेश करने का निष्फल प्रयास करना। लौकिक धर्म से शरीर की और विचार की शुद्धि होती है और लोकोत्तर धर्म से अन्तः-करण एवं आत्मा की शुद्धि होती है। इस प्रकार मनुष्य लौकिक और लोकोत्तर धर्म का पालन करके अपने जीवनधर्म-आत्मिक धर्म की शुद्धि और अन्त मे सिद्धि का लाभ करता है।

जीवन-धर्म की शुद्धि और सिद्धि प्राप्त करने के उद्देश्य से शास्त्रकारों ने लौकिक और लोकोत्तर धर्म रूप दस प्रकार के धर्मों की योजना की है। यही नहीं, चूंकि धर्मनायकों के बिना धर्म टिक नहीं सकता, अतएव दस धर्मों के अनुरूप दस प्रकार के धर्मनाय-

कों की भी सुन्दर योजना की गई है।

जैन सूत्र स्थानांग ❀ (ठाणांग सुत्त) नामक तीसरे अंगसूत्र में निम्न लिखित दस धर्मों का विधान किया गया है:—

(१) ग्राम धर्म (२) नगरधर्म (३) राष्ट्रधर्म (४) व्रत-धर्म (५) कुलधर्म (६) गणधर्म (७) संघधर्म (८) सूत्रधर्म (९) चारित्रधर्म (१०) अस्तिकाय धर्म।

इन दस धर्मों का यथावत् पालन करने के लिए तथा अन्य प्रकार की नैतिक एवं धार्मिक व्यवस्था की रक्षा करने के लिए इन प्रकार के धर्मनायकों की योजना भी की गई है। धर्मनायकों के नाम इस प्रकार हैं:—

(१) ग्रामस्थविर (२) नगरस्थविर (३) राष्ट्रस्थविर (४) प्रशास्ता स्थविर (५) कुलस्थविर (६) गणस्थविर (७) संघस्थविर (८) जातिस्थविर (९) सूत्रस्थविर और (१०) दीक्षास्थविर।

प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं दस धर्मों और धर्मनायकों की व्याख्या की जायगी।

❀ देखो ठाणांगसुत्त, दसवां ठाणा

१

ग्राम धर्म

[गामधम्मे]

—— ० ——

धर्म का बीजारोपण करने के लिये मानव जाति को ग्राम-धर्म रूप भूमि की जोत करनी चाहिये। ग्रामधर्म की भूमिका में से ही सभ्यता, नागरिकता और राष्ट्रीयता आदि अनेक धर्मांकुर फूटते हैं।

जहां साधारण जनसमूह संगठित होकर अमुक मर्यादित संख्या में बसता हो, उस बस्ती को सामान्यतया 'ग्राम' कहा जाता है। ग्राम का जनसमूह जब अधिक संख्या में बढ़ जाता है और साथ ही उसमें कुछ और ऊपरी विशेषताएँ आजाती हैं, तब वह ग्राम, ग्राम न रहकर 'नगर' बन जाता है। ग्रामों को लक्ष्य करके

ग्रामधर्म का विधान किया गया है। नगरों के लिये एक जुदे 'नगरधर्म' की योजना की गई है।

जिस धर्म को पालन करने से ग्राम्य जीवन की रक्षा होती है, उसका विकास होता है, वह साधारणतया ग्रामधर्म कहलाता है।

ग्राम में अगर चोरी होती हो तो उसे रोकना, वेश्यागमन आदि दुराचार न होने देना, विद्वान् पुरुषों के अनादर को रोकना, पशुहिंसा न होने देना, मुकदमेबाजी से होने वाली संपत्ति की हानि एवं पारस्परिक वैमनस्य का निवारण करना, गांव के मुखिया की आज्ञा शिरोधार्य करना, यह गांव का मुख्य धर्म है।

ग्रामधर्म मोक्ष की प्राप्ति के लिये पर्याप्त नहीं है, फिर भी वह जिस धर्म से मोक्षप्राप्ति होती है, उस धर्म का आधार अवश्य है। अगर ग्रामधर्म व्यवस्थित न हो और इस कारण गांवमे चोरी, लूटमार, वेश्यागमन, पशुहिंसा, अत्याचार, अनाचार आदि का दौरदौरा हो जाय तो ऐसे गांव मे जाकर आत्मशोधक क्या आत्म-साधना कर सकेगा ? कदाचित् कोई आत्मशोधक भूल-चूक में ऐसे गांव में जा पहुँचा हो और वहां चोर के अथवा ऐसे ही किसी अनाचारी पुरुषके घर का अन्न खा ले तो मानसशास्त्र के नियमानुसार उस दूषित अन्न का प्रभाव उसके मस्तिष्क पर पडे, विना नही रह सकता।

इसके अतिरिक्त जिस ग्राममे ग्रामधर्म का पालन नही होता, उसमें कोई सज्जन या साधु पुरुष निवास करके अपनी सज्जनता या साधुता की पूरी तरह रक्षा नहीं कर सकता। ऐसी स्थिति मे

कोई भी सत्यपुरुष ऐसे दूषित ग्राम में स्थिर वास नहीं कर सकेगा और जब तक प्रत्येक गांव में कम से कम एक सन्मार्ग-प्रदर्शक— ग्रामनायक न होगा तब तक ग्रामवासियों में सद्धर्म के प्रति अभिरुचि उत्पन्न न हो सकेगी।

जहाँ सद्धर्मके प्रति अभिरुचि नहीं वहाँ सभ्यता या संस्कृति की रक्षा भी नहीं होती। सभ्यता की रक्षा के लिए ग्रामधर्म की आवश्यकता होती है। क्योंकि सभ्यता का उद्भवस्थान ग्रामधर्म है। अतएव जहाँ ग्रामधर्म की रक्षा नहीं की जाती वहाँ सभ्यता या संस्कृति की सुरक्षा भी नहीं हो सकती। अनार्य देशोंमें ग्रामधर्म के अभाव के कारण सभ्यता भी नहीं होती और इसी कारण असभ्य अनार्य देश में साधु-संतों के विहार का भगवान् ने निषेध किया है।

प्रत्येक ग्राम में सन्मार्गदर्शक अथवा मुखिया की खास आवश्यकता होती है। मुखिया पुरुष ही ग्राम-निवासियों को धर्म-अधर्म का, सत्य-असत्य का, सुख-दुख का सच्चा ज्ञान कराता और वही उन्हें सद्धर्म का उपदेश देकर सन्मार्ग पर चलाता है।

केशी श्रमण जैसे चार ज्ञान के स्वामी ने चित्त प्रधान जैसे सन्मार्गदर्शक की प्रेरणा से प्रदेशी राजा को सद्धर्म का उपदेश देकर धर्म का अनुरागी बनाया था।

आज हमारी दशा बिलकुल विपरीत है। हम लोग साधु पुरुषों को सद्धर्म का उपदेश देने की प्रेरणा करने के बदले उनकी प्रशंसात्मक स्तुतियों से उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करते हैं। अ-लय चित्त प्रधान के समान सन्मार्गदर्शक बनने का का-

पर आ पड़ता है तब उससे दूर-दूर भागते हैं। यह हमारी अकर्मण्य-ता की सूचना है। सन्मार्गदर्शक बनने के योग्य व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए सच्चे कर्मठ बनने की आवश्यकता है।

जहाँ ग्रामधर्म जागृत होता है वहां जीवनधर्म की भूमिका तैयार होती है। बीज बोने से पहले खेत जोतना जसे आवश्यक होता है उसी प्रकार धर्म-बीज बोने के लिए मनुष्य को ग्रामधर्म की भूमिका तैयार करनी चाहिये क्योंकि ग्रामधर्म की भूमिका मे से सभ्यता, नागरिकता और राष्ट्रीयता आदि धर्म के अंकुर फूटते हैं।

जैसे खेती का मूल खेत को जोतना है उसी प्रकार धर्म का मूल ग्रामधर्म है। जब तक धर्मवृक्ष के ग्रामधर्म रूप मूल को नीति के जल से सीचा न जायगा, तब तक सूत्रधर्म और चरित्रधर्म रूप मधुर फल की आशा नही की जा सकती। मधुर फल पाने के लिये माली को प्रबल पुरुपार्थ करना पड़ता है, उसी प्रकार धर्म-वृक्ष मे से सूत्रचारित्र-धर्म रूप मधुर फल पाने के लिए मानव समाज को प्रबल पुरुषार्थ करने की आव-श्यकता होती है।

धर्म-वृक्ष के ग्रामधर्म रूप मूल को, नीति-जल से नियमित सिंचन करके सुदृढ़ बना लेने के पश्चात् सूत्र-चारित्र रूप मधुर फल अवश्य प्राप्त किये जा सकते है

नगरधर्म

[नगरधंमे]

——०:——

नगरधर्म का यथोचित रूप से पालन करने के साथ ही साथ अपने आश्रित ग्रामधर्म की भी रक्षा करना नागरिकों का परम कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्यपालन में ही नागरिकों की नागरिकता की प्रतिष्ठा है।

जब ग्राम का विस्तार बढ़ जाता है तब वह नगर के रूप में परिणत हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि ग्राम, नगर का एक भाग है। अतएव ग्राम का धर्म भी नगरधर्म गिना जाता है।

ग्राम और नगर में अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है। नगर का प्रधान आधार ग्राम है। ग्राम के बिना नगर का जीवन नहीं टिक सकता। साथ ही नगर के बिना ग्राम की रक्षा नहीं हो सकती। अगर ग्राम अपने धर्म—ग्रामधर्म को भूल जाय और नगर अपने नगरधर्म का विस्मरण कर दे तो दोनों का ही पतन अवश्यंभावी है।

शरीर और मस्तिष्क में जितना घना सम्बंध है, उतना ही सबंध ग्रामधर्म और नगरधर्म में आपस में है। ग्राम्य जन अगर शरीर के स्थान पर हैं तो नागरिक जन मस्तिष्क की जगह। जब शरीर स्वस्थ होता है तभी मस्तिष्क स्वस्थ रह सकता है, यह बात कौन नहीं जानता? यद्यपि मस्तिष्क शरीर के प्रमाण में छोटा है फिर भी समस्त शारीरिक कार्यों का संचालन मतिष्क से ही होता है। दैवयोग से जब मस्तिष्क विक्षिप्त हो जाता है तो वह अपने साथ सम्पूर्ण शरीर को हानि पहुँचाता है।

वर्त्तमान काल में नागरिकों की अवस्था-व्यवस्था विकृत हो रही है। उन्हे अपनी रक्षा का भी भान नहीं है। उनका धार्मिक जीवन प्राय नष्ट भ्रष्ट हो रहा है। ग्रामधर्म को अपना आधार न मान कर ग्रामों की ओर अक्षम्य उपेक्षा का भाव धारण करके आज के नागरिक अपने समय का, शक्ति का और संपत्ति का, नाटक, सिनेमा, नाचरंग, फैशन आदि में दुरुपयोग कर रहे हैं। अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, उन्हे अपने धर्म का-कर्त्तव्य का भान ही नही रह गया है।

आज के नागरिकों की स्थिति ऐसी खराब है। इस स्थिति में उनसे ग्राम्य जनों की रक्षा की क्या आशा की जा सकती है? मस्तिष्क अस्थिर हो जाने से जैसे शरीर को अवश्य हानि पहुंचती है, उसी प्रकार नागरिको द्वारा अपना नगरधर्म भुला देने के कारण ग्राम्यजन अपना ग्रामधर्म भूलते जाते हैं।

नगरधर्म का यथोचित रूप से पालन करने के साथ ही साथ अपने आश्रित ग्रामधर्म की भी रक्षा करना नागरिकों का परम कर्त्तव्य है। इस कर्त्तव्यपालन में ही नागरिकों की नागरिकता की प्रतिष्ठा है।

वर्त्तमान स्थिति में नागरिकों का धर्म क्या है? इस प्रश्न का समाधान अपने ही दृष्टांत से करता हूँ।

आप लोगों ने मुझे आचार्य पद पर स्थापित किया है। अब मेरा कर्त्तव्य है कि मैं आप लोगों को धर्मोपदेश देकर आचार में स्थिर करूं। अगर मैं निष्क्रिय हो एक ओर बैठ जाऊं और आचार धर्म का उपदेश न करूं तो आप मुझे क्या कहेंगे?

आप कहेंगे—आचार्य महाराज, आप आचारधर्म का उपदेश न देकर बैठे रहेंगे तो आचारधर्म का पालन किस प्रकार होगा? आपको आचारधर्म का उपदेश तो देना ही चाहिये?

आपका यह कथन न्याययुक्त होगा। आप सबने मुझे धर्म का आचार्य नियत किया है। अतएव आचारधर्म का उपदेश देकर मुझे अपने कर्त्तव्य का पालन करना ही चाहिये। इसी कर्त्तव्यपालन में आचार्य पद का महत्व समाया हुआ है।

इस प्रकार श्रावक के धर्म की रक्षा करना जैसे आचार्य का कर्त्तव्य है, उसी प्रकार अपने आश्रित ग्रामजनों की रक्षा करना नागरिकों का कर्त्तव्य है।

आचार्य अगर लापरवाह एवं निठल्ला बना बैठा रहेगा तो श्रावकों और साधुओं के धर्म की रक्षा एवं वृद्धि न होगी। इसी प्रकार अगर नागरिक लापरवाह और निकम्मे बन जाते हैं तो ग्रामजनों के कल्याण की बहुत ही कम संभावना हो सकती है।

आज राजनीतिक नेताओं में नागरिकों की ही संख्या अधिक है। कहना चाहिये, आधुनिक राजनीति नगर के हाथों में है।

नगरधर्म को भूल जाने के कारण, जो नागरिक धारासभाओं में या इसी प्रकार की किसी अन्य राजनीतिक सभा में चुने जाते हैं, वे अपने कर्त्तव्य का यथाविधि पालन करते हों, यह बहुत कम देखा जाता है। जो सभ्य, प्रजा के मत से चुने जाते है वे चुनाव से पहले तो बड़ी उदार और हितकर प्रतिज्ञाए करते हैं, पर चुने जाने के बाद, उनमें से अधिकांश कीर्त्ति लोभ एवं स्वार्थ से प्रेरित होकर, प्रजाहित का घात करने वाले अनेक कानूनों का निःसंकोच समर्थन करते देखे जाते हैं। ऐसे लोग प्रजा के हित का संरक्षण करने के बदले प्रजाहित का भक्षण करने मे अपनी सम्मति देकर प्रजाहित के विरोधी कानून बनाने मे सरकार का साथ देते हैं।

प्रजाहित के प्रतिकूल कानून बनाते समय, जहाँ तक सम्भव हो, तीव्र से तीव्र विरोध करना, प्रजापक्ष के सदस्यों का नगरधर्म है। मगर आज इस नगरधर्म की ओर बहुत थोड़े लोगों का ध्यान है। यही कारण है कि नागरिक लोग अपने ही हाथ से प्रजाहित का घोर विघात कर रहे हैं।

कुछ नागरिकों मे एक भ्रान्त धारणा घुसी हुई है। वे समझते हैं—'सरकार-राजा द्वारा घड़े हुए कानूनों का विरोध करना राजा-सरकार का विरोध करना है और शास्त्र की यही आज्ञा है कि राजा के विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये।

जो लोग ऐसा तर्क उपस्थित करते हैं वे शास्त्र के वास्तविक रहस्य को नही समझते। शास्त्रकारों ने—

विरुद्धरज्जाइक्कम्मे

को दोष बतलाया है। इसका तात्पर्य है—राज्य से विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिये। अर्थात् राज्य द्वारा की हुई सुव्यवस्था का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। इस सूत्र के विषय में सामान्य जनता में जो भ्रम फैला हुआ है वह 'राज्य' और 'राजा' शब्द के अर्थ में अन्तर न समझने के कारण है।

सामान्य समझ के लोग राज्य और राजा को एक ही समझ बैठते हैं। यह उनकी बड़ी भूल है। राज्य का अर्थ है—देश की सुव्यवस्था। राज्य अर्थात् देश की सुव्यवस्था का विरोध न करना यह शास्त्र का आदेश है। मगर यदि राजा अनीति से, अनाचार से या स्वार्थ से राज्यव्यवस्था को दूषित करता हो तो उसके विरुद्ध आंदोलन करना जैन शास्त्रों से विरुद्ध नहीं है। जैन-शास्त्र ऐसे पवित्र आंदोलन का निषेध नहीं करते।

आज शराब, गांजा, भंग अफीम आदि मादक पदार्थों पर सरकार अपना एकाधिपत्य रखती है। कल्पना कीजिए, प्रजा ने मादक द्रव्यों से होने वाली हानियां समझ लीं और उनका त्याग किया। प्रजा के इस त्याग से सरकार की आमदनी को धक्का पहुँचा। सरकार ने अपनी आमदनी बढ़ाने के लिये एक नियम जारी किया कि प्रतिदिन प्रत्येक पुरुष को शराब का एक प्याला पीना अनिवार्य होगा। ऐसी स्थिति में प्रजा का कर्त्तव्य क्या होगा? सरकार का विरोध करना उचित नहीं है, ऐसा मानकर प्रजा क्या चुपचाप बैठी रहेगी? क्या वह सरकार के इस अनीतिमय नियम को शिरोधार्य कर लेगी? कदापि नहीं। अगर प्रजा में नैतिकता की भावना विद्यमान है, अगर प्रजा में जीवन है, बल है, तो वह

३

राष्ट्रधर्म

[रट्ठधम्मे]

जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

जननी और जन्म भूमि स्वर्ग से भी अधिक महिमामयी है।

जब ग्रामों में ग्रामधर्म का और नगरों में नगर धर्म का यथोचित पालन होता है तब राष्ट्रधर्म की उत्पत्ति होती है। ग्राम में यदि प्रामाणिक मनुष्यों का निवास होगा तो नगर निवासियों को भी प्रामाणिक बनना पडेगा। और जब नगर निवासी प्रामाणिक बनेंगे तो उनका प्रभाव सम्पूर्ण राष्ट्र पर पड़े बिना न रहेगा।

भारतवर्ष के अधःपतन का कलंक आज ग्रामीण जनता पर नही किन्तु नागरिकों के माथे थोपा जाता है। वास्तव में बात सच्ची भी है।

जब से भारतवर्ष का अधःपतन आरम्भ हुआ है, तब से अब तक का इतिहास देखने से मालूम होता है कि थोड़े से नागरिकों

ने अपने नगरधर्म का पालन नहीं किया और इसी कारण राष्ट्र-धर्म का लोप हो गया।

जयचन्द्र के जमाने से लेकर, मीरजाफर तथा उसके बाद, आज तक हम ऐसी ही दुरवस्था देखते आते हैं।

बंगाल मे 'ईस्ट इंडिया कपनी' के कार्यकर्त्ता अपनी कुटिलता से देश को दुख दे रहे थे और नमक जैसो सर्व-साधारणोपयोगी वस्तु के ठेकेदार बन कर ऐसा अत्याचार कर रहे थे कि जिस किसी के घर मे पाच सेर नमक निकल आता उसकी समस्त सपत्ति जब्त कर ली जाती थी। यही नहीं, वे अपना व्यापार बढ़ाने के लिये तथा अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए प्रसिद्ध एव कुशल बुनकरों में से अनेक के अ गूठा तक काट लेते थे। ❀

जरा उस जमाने की ओर ध्यान दीजिये। उस समय अत्याचारों का प्रतीकार करना असभव सा होगया था। इसका प्रधान कारण यही था कि जगत्सेठ अमीचद तथा महाराज नन्दकुमार सरीखे प्रसिद्ध नागरिक अपने स्वार्थ के खातिर देशद्रोह कर रहे थे।

भारत की बात जाने दीजिये। किसी दूसरे राष्ट्र के पतन के कारणो की खोज कीजिये। आपको मालूम होगा कि उस राष्ट्र के नागरिकों ने अपना नगरधर्म यथोचित रूप से पालन नही किया और इसी कारण उस राष्ट्र का अध पतन हो गया।

आज मुट्ठीभर विदेशी चालीस करोड़ भारतवासियों पर शासन कर रहे है। इसका प्रधान कारण यही है कि भारत के नागरिक नगरधर्म का पालन नही करते।

❀ देखो 'प्लासी का युद्ध' बंगाला बेहाल, नामक पुस्तके

याद रखना चाहिये, जो नागरिक नगरधर्म का ठीक तरह पालन नहीं करता वह अपने राष्ट्र का अपमान करता है, और दूसरे शब्दों में कहा जाय तो देशद्रोह करता है।

जब तक ग्राम्यजन ग्रामधर्म और नागरिक जन नगरधर्म के पालन करने का दृढ निश्चय न कर लेंगे तब तक राष्ट्र का उत्थान होना असंभव प्रतीत होता है।

राष्ट्र शब्द की व्याख्या करते हुए शास्त्रकारों ने बतलाया है—जो प्राकृतिक मर्यादा से मर्यादित हो, एक ही जाति तथा एक ही सभ्यता के लोग जहाँ रहते हों उस देश को राष्ट्र कहते हैं।

ग्रामों और नगरों का समूह भी राष्ट्र कहलाता है।

जिस कार्य से राष्ट्र सुव्यवस्थित होता है, राष्ट्र की उन्नति-प्रगति होती है, मानवसमाज अपने धर्म का ठीक-ठीक पालन करना सीखता है, राष्ट्र की सपत्ति का संरक्षण होता है, सुख-शांति का प्रसार होता है, प्रजा सुखी बनती है, राष्ट्र की प्रतिष्ठा बढती है और कोई अत्याचारी परराष्ट्र, स्वराष्ट्र के किसी भाग पर अत्याचार नहीं कर सकता, वह कार्य राष्ट्रधर्म कहलाता है।

राष्ट्र के प्रत्येक निवासी पर राष्ट्रधर्म के पालन करने का उत्तरदायित्व है, क्योंकि एक ही व्यक्ति के भले या बुरे काम से राष्ट्र विख्यात या कुख्यात (बदनाम) हो सकता है। इसे स्पष्ट करने के लिये एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा।

एक भारतीय सज्जन (!) यूरोप की किसी बड़ी लाइब्रेरी में ग्रन्थ अवलोकन करने गये। वहां एक सचित्र ग्रंथ पढते पढ़ते एक सुन्दर चित्र उन्हें नजर आया। वह चित्र उन्हे बहुत पसन्द आया।

उन्होंने चोरी से उसे फाड लिया। संयोगवश लाइब्रेरियन को पता चल गया। उसने जांच पड़ताल की। उस भारतीय को पकडा और दंड दिलवाया। इस भारतीय के दुष्कृत्य का नतीजा सारे देश को भोगना पड़ा। उस लाइब्रेरी मे यह नियम बना दिया गया कि इस लाइब्रेरी में कोई भी भारतीय विना आज्ञा लिए प्रवेश न करे।

सैकड़ों भारतीय विद्यार्थी उस ग्रंथालय मे जाकर लाभ उठाते थे। एक व्यक्ति की करतूत से वह लाभ मिलना बंद होगया। विद्यार्थियों के ज्ञानाभ्यास मे बाधा पड़ी। यही नहीं समाचार-पत्रो मे इस घटना की खूब चर्चा की गई और भारतीयों को नीचा दिखाने का प्रयत्न किया गया। तात्पर्य यह है कि राष्ट्रधर्म का पालन न करने से समूचे राष्ट्र को अप्रतिष्ठा और हानि का शिकार होना पड़ता है।

इससे विरुद्ध विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर, डा० जगदीशचन्द्र बोस, स्वामी विवेकानन्दजी, महात्मा गांधीजी जैसे राष्ट्रहितैषियों ने यूरोप आदि की यात्रा करके राष्ट्रधर्म का पालन करके, अपनी राष्ट्रीयता का-उन्नत राष्ट्रीय भावना का, परिचय देकर, भारतमाता की गुणगाथा गाकर उसकी महत्ता प्रकाशित करके स्वदेश का मस्तक ऊँचा उठाया है। इसीलिए कहा गया है कि राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति पर राष्ट्र का आधार है।

कुछ लोग कहते हैं, आत्मकल्याण में तत्पर रहने वालों को ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म आदि की क्या आवश्यकता है? मगर वास्तव मे यह-कथन सही नहीं है। आत्मशोधकों को भी ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म के साथ थोड़ा बहुत संबन्ध रखना ही पड़ता है, क्योंकि साधुओं को ग्राम में, नग

राष्ट्र में रहना होता है, विचरना होता है, और वहीं से आहार पानी ग्रहण करना होता है। ग्रामनिवासी अगर अधर्मी, चोर या अत्याचारी होंगे तो उनका अन्न खाने वाला साधु धर्मात्मा, स्वतंत्र विचार करने वाला, महात्मा और आत्मशोधक कैसे बन सकेगा ? कहावत प्रचलित है-'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन।' मानसशास्त्र बतलाता है कि जैसे विचार रखने वाले का आहार खाया जायेगा, प्राय वैसा ही विचार खाने वाले का हो जायगा।

जहाँ तक गृहस्थ उपासकों का जीवन पवित्र नीतिमय नहीं बनता वहीं तक साधुओं का जीवन पवित्र रहना कठिन है। अगर गृहस्थ-उपासक अपने धर्म का पालन करने में दृढ़ रहे तो साधुओं को भी सयमपालन मे दृढ़ रहना ही पड़ेगा। यह एक ध्रुव सत्य है।

श्री दशवैकालिक सूत्र की पहले अध्ययन की पहली गाथा की टीका मे, नीतिमान् पुरुषों का न्यायोपार्जित अन्न ही साधुजनों को ग्राह्य बतलाया है।

जब तक राष्ट्र का प्रत्येक सभ्य राष्ट्रधर्म का भलीभाँति पालन नहीं करता तब तक सूत्र चारित्र धर्म सदैव खतरे मे रहते हैं। क्योंकि राष्ट्रधर्म आधार है और सूत्रचारित्र धर्म आधेय हैं। आधार के अभाव मे आधेय किसके सहारे टिक सकता है ? जैसे पात्र के अभाव मे घी नहीं टिक सकता, उसी प्रकार राष्ट्र-धर्म के बिना सूत्र-चारित्र धर्म नहीं टिक सकता।

यह बात नीचे लिखे उदाहरण से विशेष स्पष्ट हो जायगी.—

मनुष्यों से भरा हुआ एक जहाज नदी के बीचोंबीच जा रहा है। मार्ग मे एक मूढ़ मनुष्य, किसी मनुष्य को उठाकर नदी

मे फेकने को तैयार होता है और दूसरा मूढ़ तेज धार वाले शस्त्र से जहाज मे छेद करने का प्रयत्न कर रहा है। इस स्थिति मे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इन दोनों मे से पहले किसे रोका जाय ? अगर बुद्धिमान पुरुषों से इस प्रश्न का उत्तर मांगा जाय तो वह यह होगा कि जहाज मे छेद करने वाले को पहले रोकना उचित है।

इस उत्तर से सामान्य मनुष्य को यह शंका हो सकती है कि जहाज मे छेद करने वाले को पहले रोका जाय और जीवित मनुष्य को नदी मे फेंकने वाले को बाद मे रोका जाय, यह क्यों ? क्या जहाज का मूल्य मानव जीवन से भी अधिक है ?

ऐसी आशंका करने वालेको समझना चाहिये कि अगर जहाज मे कोई मुसाफिर न होता, जहाज नदीके किनारे पड़ा होता और उस समय उसमे छेद किया जाता तो विशेष हानि नहीं थी। पर जब जहाज नदीके बीचों बीच जा रहा है, उस समय उसमें छेद हो जाय तो तमाम यात्री नदी में डूब मरेंगे। अतएव ऐसी स्थिति में जहाज के मूल्य का अर्थ होता है बहुसंख्यक मनुष्यों के जीवन का मूल्य।

अगर प्रत्येक व्यक्ति जहाज मे छेद होते देखकर आत्मरक्षा के ही प्रयत्न में लग जाय और दूसरों की चिन्ता न करे तो उसका परिणाम अच्छा नहीं निकलेगा।

जो लोग राष्ट्र की रक्षा करने के बदले केवल व्यक्ति की ही रक्षा करना चाहते हैं, उन्हे भी उपर्युक्त उदाहरण ध्यान मे रखना चाहिए।

आत्मधर्म की बाते करने वाले लोग संसार से संबन्ध रखने वाले बहुत से काम करते हैं; परन्तु जब आचारधर्म के

पालन का प्रश्न उपस्थित होता है तब वे कहने लगते हैं—हमे दुनियादारी की बातों से क्या सरोकार? ऐसे लोग आत्मधर्म की ओट मे राष्ट्र के उपकार से विमुख रहते है।

भगवान् महावीर सरीखे महापुरुष ने, केवलज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी, केवल समष्टि—जगत्—के हित के उद्देश्य से धर्म का उपदेश दिया था और देश—देशान्तर मे भ्रमण करके मोक्ष का राजमार्ग बतलाया था। जब जीवन्मुक्त केवलज्ञानी ऐसा व्यवहार करते हैं तब ससार मे रहने वाले जो लोग कहते हैं कि हमे ग्राम, नगर या राष्ट्र से क्या मतलब है? उन पामर पुरुषों की यह कितनी बड़ी कृतघ्नता है?

पतित का उद्धार करना, डूबतेको उबारना, यह धर्म है। इस सामान्य वस्तु को समझते हुए भी कुछ लोग ऐसे है जो राष्ट्ररक्षा के कामों से कोसों दूर रहते है। राष्ट्र के प्रति इस प्रकार की उदासीनता होने का कारण राष्ट्रधर्म की महत्ता का अज्ञान है। जिन्होंने राष्ट्रधर्म का महत्व नही समझा वही लोग राष्ट्रहित के प्रति उदासीन रहते है।

जिसके हृदय मे आत्मसम्मान का भाव होगा वह अपना अथवा अपनी माता का अपमान सहन नहीं कर सकता। वह अपना या अपनी माता का अपमान देखकर क्षुब्ध हो उठता है।

हम लोगों को जन्म देने वाली, पाल-पोस कर बड़ा करने वाली माता तो माता है ही, मगर अपने पेट मे से पानी निकाल कर पिलाने वाली, अपने उदर मे से अन्न निकाल कर देने वाली, स्वयं वस्त्रहीन रहकर हमें वस्त्र देने वाली और माता की भी माता हमारी मातृभूमि है। माता और मातृभूमि का जितना उपकार माना जाय उतना ही कम है।

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।' अर्थात् जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी अधिक महिमामयी हैं। यह कथन सोलह आने सत्य है। यह भारतवर्ष अपना देश है। अपनी मातृभूमि है। हम सब उसकी संतान हैं। माता की आबरू रखना, माता की प्रतिष्ठा की रक्षा करना संतान का कर्त्तव्य है।

जिन कानूनों के कारण, जिन विदेशी वस्तुओं के व्यवहार की बदौलत, मातृभूमि की इज्जत मिट्टी में मिलती हो, राष्ट्रधर्म को धक्का लगता हो और स्वाधीनता बिक जाती हो, उन कानूनों को, विदेशी वस्तुओं के व्यवहार को बंद कर देने के बदले, विलास की सामग्री बढाकर राष्ट्रीय संपत्ति और शारीरिक संपत्ति को स्वाहा करना और इस प्रकार राष्ट्र के बन्धनों को ढीला करने के बदले और अधिक मजबूत बनाना मनुष्यत्व से विरुद्ध है। मातृभूमि के प्रति पुत्र की जैसी भावना होनी चाहिए वैसी भावना इस व्यवहार में नहीं है।

माता की मुक्ति के लिए पुत्र को स्वदेशाभिमान, स्वार्पण और सेवा के सूत्र स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करने चाहिए।

निम्नलिखित सुवर्णाक्षर अपने हृदयपट पर अंकित कर लो–
'राष्ट्र की रक्षा में हमारी रक्षा है। राष्ट्र के विनाश में हमारा विनाश है।'

शास्त्रों का अवलोकन करने से एक बात स्पष्ट ध्यान में आ जाती है। वह यह है कि राष्ट्रधर्म के बिना सूत्रचारित्रधर्म नहीं टिक सकता। इस बात की पुष्टि के लिए शास्त्रों के अनेक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं।

श्री ऋषभदेव भगवान ने अवतरित होकर ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म की स्थापना की थी। उन्होंने अपने जीवन के वीस भाग कुमार अवस्था मे व्यतीत किये थे और त्रेसठ भाग राष्ट्रधर्म के संशोधन और प्रचार मे लगाये थे। उन्होंने अपने जीवन का एक भाग सूत्र चारित्रधर्म के प्रचार मे लगाया था।

इसके अतिरिक्त 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' नामक सूत्र मे उल्लेख है-पहले सूत्र-चारित्रधर्म का नाश होगा, फिर राष्ट्रधर्म का नाश होगा। इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि जब तक सूत्र चारित्रधर्म है तब तक राष्ट्रधर्म का अस्तित्व अनिवार्य है। इसी कारण सूत्र-चारित्रधर्म का प्रचार करने के लिए सर्वप्रथम, श्री ऋषभदेव ने राष्ट्रधर्म का प्रचार किया था।

उल्लिखित प्रमाणों के अनुसार सूत्रचारित्रधर्म का नाश होने के पश्चात् भी राष्ट्रधर्म का अस्तित्व बना रहेगा। अर्थात् सूत्र-चारित्रधर्म की उत्पत्ति से पहले और उसके विनाश के बाद भी राष्ट्रधर्म प्रचलित रहता है।

जो लोग कहते हैं—'राष्ट्रधर्म से हमे क्या लेना देना है?' उनसे पूछना चाहिए—तुम्हारा सूत्र-चारित्रधर्म के साथ सबंध है या नही? अगर सबन्ध है तो सूत्र-चारित्रधर्म विना राष्ट्रधर्म के टिक नहीं सकता, अतएव सूत्र-चारित्रधर्म का पालन करने के लिए राष्ट्रधर्म का भी पालन करना आवश्यक है। इस प्रकार किसी भी अवस्था मे राष्ट्रधर्म का निषेध नही किया जा सकता।

स्थानांग सूत्र मे कहा है—

धम्मं चरमाणस्स पंच णिस्सा ठाणा पण्णत्ता । तं जहा-
छक्काए, गणे, राया, गिहवई सरीरं ॥

—ठाणा ५, सूत्र ४४८.

अर्थात्—सूत्र-चारित्रधर्म को अंगीकार करने वाले साधुओं को भी पांच वस्तुओं का आधार लेना पड़ता है । वे इस प्रकार हैं—(१) षट्काय (२) गच्छ (३) राजा (४) गृहपति (५) शरीर ।

ऊपर अंकित किये गये शास्त्रोल्लेख से भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन पांच वस्तुओं का आश्रय लिये विना सूत्र-चारित्र-धर्म का टिकाव नहीं हो सकता ।

ऊपर के सूत्र मे प्रयुक्त 'राजा' शब्द राज्य या राष्ट्र अर्थ का वाचक है । अगर राष्ट्रीयव्यवस्था अर्थात् राज्यप्रबंध अच्छा न हो तो चोरी, हिंसा, अत्याचार, अनाचार आदि कुकर्म फैल जाएंगे और तब सूत्र-चारित्रधर्म का समुचित रूप से पालन नहीं हो सकेगा ।

इसका कारण स्पष्ट है । जो लोग अपनी रक्षा के लिए अस्त्र-शस्त्र रखते हैं, उनकी भी रक्षा राज्य की सुव्यवस्था के विना नहीं हो सकती । वे दुष्ट लोगों से भलीभांति अपनी रक्षा नहीं कर सकते । ऐसी हालत मे मुनि जन, जो दूसरे को मारने के लिए लकड़ी का एक टुकड़ा भी नही रखते, राज्य की सुव्यवस्था के विना दुष्टों की दुष्टता से बचकर शान्तिपूर्वक धर्म का पालन कैसे कर सकते हैं ? इसी उद्देश्य से शास्त्रकारों ने राजा को धर्म का रक्षक और पालक माना है । राष्ट्रधर्म, सूत्र-चारित्रधर्म की रक्षा करता है,

इसी कारण शास्त्रकारों ने राष्ट्रधर्म की अनिवार्य आवश्यकता स्वीकार की है।

जो लोग एक तरफ से धर्म का रक्षण करते हैं और दूसरी तरफ से धर्म का नाश होने देते हैं, क्या वे वास्तव में धर्म की रक्षा कर सकते हैं? नहीं। केवल सूत्रचारित्रधर्म को धर्म समझना और राष्ट्रधर्म को धर्म न मानना, मकान की नींव खोद कर उसे स्थिर बनाने के समान अथवा वृक्ष की जड़ उखाड़ कर उसे हरा-भरा बनाने का प्रयत्न करने के समान है।

सूत्र-चारित्रधर्म मकान अथवा वृक्ष के समान है, जबकि राष्ट्रधर्म नींव अथवा वृक्ष के मूल के समान है।

जो लोग ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म का मूलोच्छेदन करते हैं, वे परोक्षरूप से सूत्र-चारित्रधर्म का भी निषेध कर रहे हैं। अतएव चारित्रधर्म के नाम पर जो लोग राष्ट्रधर्म आदि की अवहेलना करते हैं, उन्हें शास्त्रधर्म और समयधर्म का गहन चिन्तन मनन करना चाहिये। बिना सोचे-विचारे अथवा शास्त्रों का गहराई के साथ अध्ययन मनन किये बिना किसी की भली बुरी बात मान लेने से आगे चलकर पश्चात्ताप करने का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार काल्पनिक, भ्रमपूर्ण विचार धारण करने से आज नहीं तो भविष्य में राष्ट्र, समाज और धर्म को भयंकर हानि पहुंचने की संभावना है। इसलिए मैं जोर देकर बार बार कहता हूं कि-प्रत्येक बात पर बुद्धिपूर्वक विचार करो। दूसरे जो कुछ कहते हैं, उसे ध्यानपूर्वक सुनो और तात्त्विक दृष्टि से शास्त्रों का अवलोकन करो। केवल अन्धविश्वास

से प्रेरित होकर या संकुचित मनोवृत्ति से अपनी मन-कल्पित बात को मत पकड़ रखो। दुराग्रह या स्वमताग्रह के फेर में मत पड़ो।

राष्ट्रधर्म की महत्ता समझने और समझाने वालों की संख्या कम हो जाने के कारण आज राष्ट्रधर्म का आचरण करना कठिन हो रहा है। और राष्ट्रधर्म का यथोचित परिमाण में आचरण न होने से लोग जैनधर्म को संकीर्ण और अव्यवहार्य धर्म कह कर उसकी भर्त्सना करते हैं।

राष्ट्रधर्म की व्याख्या करने से पहले भगवान् ऋषभदेव का उदाहरण इसलिये दिया गया है कि आप लोग भगवान् ऋषभदेव द्वारा उप दृष्टि राष्ट्रधर्म को ठीक ठीक समझ जाएँ।

शास्त्र में कहा है —

'पयाहियट्ठयाए—प्रजाहितार्थाय।'

अर्थात् प्रजा के हित के लिए भगवान् ऋषभदेव ने राष्ट्रधर्म आदि की स्थापना की थी। उन्हीं के द्वारा स्थापित की हुई राजनीति से आज हमारा व्यवहार चल रहा है। भगवान् के द्वारा स्थापित की हुई नीतियां प्रजा का कितना अधिक हित-साधन करने वाली हैं, इस बात को समझने के लिए उनके द्वारा स्थापित नीतियों में से केवल एक विवाहनीति को समझ लेना ही पर्याप्त होगा।

आज अगर विवाहप्रथा न होती तो मानव-समाज की क्या स्थिति होती? युगलिया जीव शान्त स्वभाव वाले थे। वे अपनी काम वासना पर अंकुश रख सकते थे, मगर आज ऐसी हालत नहीं

है। विवाह बंधन होने पर भी आज अधिकांश लोग परस्त्री की ओर विकार-दृष्टि से देखते हैं। ऐसी दशा मे अगर विवाह का बंधन न होता तो मानव समाज की स्थिति पशुओं से भी बदतर होती या नहीं? पशुओं मे अब भी मर्यादा दिखाई देती है। मनुष्य समाज मे वैवाहिक प्रथा विद्यमान होने पर भी काम-वासना को तृप्त करने की मर्यादा नहीं है, तो अगर विवाह प्रथा न होती तो मानव-समाज किस स्थिति मे होता, यह कल्पना ही भयंकर मालूम होती है।

इस बात पर विशेष विचार करने से भगवान् ऋषभदेव द्वारा स्थापित की हुई राजनीति का तथा उनके द्वारा प्ररूपित राष्ट्रधर्म का महत्त्व समझ में आ सकता है।

राष्ट्रधर्म का मुख्य सार यह है:—

ऐक्य, राज्य, स्वातन्त्र्य, यही तो राष्ट्र अंग है।
सिर, धड़, टांगों सदृश, जुड़े हैं अंग संग हैं॥
व्यक्ति कुटुम्ब समाज सब, मिले एक ही धार मे।
मिला शांति-सुख राष्ट्र के पावन पारावार मे॥

× × × ×

अंग राष्ट्र का बना हुआ प्रत्येक व्यक्ति हो।
केन्द्रित नियमित किये सभी को राज्य शक्ति हो॥
भरा हृदय में राष्ट्रगर्व हो, देशभक्ति हो।
समता में अनुरक्ति, विषमता से विरक्ति हो॥

× × × ×

राष्ट्रपताका पर लिखा रहे—'न्याय-स्वाधीनता'।
पराधीनता से नहीं बढ़ कर कोई दीनता॥

——त्रिशूल।

४

व्रतधर्म

[पाखंड धर्म मैं]

—·०·—

अहिंसाव्रत, सत्यव्रत, अस्तेयव्रत, अभयव्रत, ब्रह्मचर्यव्रत, स्वादेन्द्रियनिग्रहव्रत, अपरिग्रहव्रत, आदि-आदि जो व्रत तुमने धारण किये हों, उनमें दृढ रहना, उनसे महात्मा गांधी की तरह चिपटे रहना। यही सब प्रकार के विजय की चावी है। यही अपना धर्म है।

धर्म का पालन करने के लिए दृढ निश्चय अर्थात् व्रतधर्म की खास आवश्यकता है। इस बात को लक्ष्य में रख कर शास्त्रकारों ने ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म का समुचित पालन करने के लिए दृढ़ निश्चय—व्रतधर्म की आवश्यकता स्वीकार की है।

व्रतधर्म का अर्थ क्या है? जीवन में व्रतधर्म का क्या और कितना स्थान है? व्रतधर्म के पालन से धर्म का पालन किस प्रकार होता है? इन प्रश्नों पर यहां थोडा-सा प्रकाश डाला जायगा।

शास्त्रकारों ने व्रतधर्म का 'पाखण्डधर्म' के नाम से वर्णन किया है। यहां 'पाखण्ड' शब्द जरा अटपटा-सा मालूम होता है पर यह समझ रखना चाहिए कि सामान्यतया 'दंभ' के अर्थ मे प्रयुक्त होने वाला 'पाखण्ड' शब्द यह नहीं है। यहां 'पाखण्ड' शब्द 'व्रत' अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है* । अतएव 'पाखण्ड' शब्द मात्र से घबराने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि यहां प्रयोग किया गया 'पाखण्ड' शब्द निर्भय बनाने वाला और व्रत-पालन मे दृढ निश्चय उत्पन्न करने वाला है।

---

* डा० होर्नल 'पाखण्ड' शब्द का अर्थ इस प्रकार करते हैं—
परपाषण्डाः परदर्शनिनस्तेषां प्रशंसा गुणोत्कीर्त्तनम्, परपाषण्डप्रशंसा। परपाषण्डसंस्तवस्तस्य परिचय ।

Praising of heterodox teachers and intimacy with heterodox teachers In yog II, 17, mithya-dristi-prashansanam The word 'पाखण्ड' has, with the jains, no bad sense It means generally the adherent of any religion, especially of their own house with the Brahmans, it came to mean 'an adherent of a false or heterodox religion, with them पासंड is equal to the jains परपासंड See also Bhag. P. P 2/3/2/4/ and Ind St val XVII P 75.

पाखण्ड शब्द प्राचीन बौद्ध साहित्य मे और जैनागमो मे मिलता है और उसका मूल अर्थ है—किसी प्रकार का मत। अपने मत में स्थिर होकर रहने से ही मनुष्य की मानसिक स्थिरता टिक सकती है और श्रद्धा में विचलितता नही आती। जान पडता है इसी आशय से पर-पाखण्ड की प्रशंसा का निषेध किया गया है।

साधारण मनुष्य से अगर 'पाखण्डधर्म' का अर्थ पूछा जाय तो वह एकाएक विचार मे पड जायगा। वह सोचेगा—'पाखण्ड' धर्म कैसे हो सकता है ? और धर्म पाखण्ड कैसे हो सकता है ?

पाखण्ड शब्द का प्रयोग अशोक के शिलालेखों में भी पाया जाता है। शिलालेख मे यह भी कहा गया है कि—

किसी भी मनुष्य को किसी के 'पाखण्ड' की निन्दा करके उसे दुखी नहीं करना चाहिये, ऐसी महाराज अशोक की आज्ञा है।

गीता मे भी कहा है:—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।

अर्थात् स्वधर्म में स्थिर रहते हुए मर जाना अच्छा है। परधर्म भयानक होता है।

एक व्यक्ति जवाहरात का धन्धा करता है। उसे उसमें दिलचस्पी है, कमाई है। अगर वह अपने पुत्र को इस धन्धे में निपुण बनाना चाहता है तो उसे चाहिये कि वह अपने पुत्र के सामने किसी दूसरे व्यवसाय की प्रशसा न करे। ऐसा करने से वह भी जवाहरात के व्यवसाय में निपुण हो जायगा और दिलचस्पी लेने लगेगा। अन्यथा अस्थिर-चित्त होकर असफल रहेगा।

पर-पाखण्ड शब्द का अर्थ यह नहीं है कि किसी को मिथ्यात्वी कहना अथवा उसकी निन्दा करना, वरन् परम्परागत सदाचार का पालन करना, उसी में बुद्धिपूर्वक अनुरक्त रहना, उसका लापरवाही से त्याग न करना। हां, अगर परम्परागत आचार सदाचार न होकर दुराचार हो तो उसे उसी समय त्याग देना चाहिये।

मगर इसमे साधारण आदमी का कोई दोष नहीं है, क्योंकि साधारण व्यवहार मे, बोलचाल मे 'पाखण्ड' शब्द दंभ के अर्थ मे ही प्रयुक्त होता है। फिर भी शास्त्रीय भाषा मे 'पाखण्ड' व्रत पालन या दृढ़ निश्चय अर्थ मे व्यवहृत किया गया है।

'पाखण्ड' शब्द अनेकार्थक है। उसका अर्थ दंभ भी है और व्रत भी है।

श्री दशवैकालिक सूत्र के द्वितीय अध्ययन की (निर्युक्ति १५८ की) टीका मे 'पाखण्ड' शब्द का अर्थ 'व्रत' कियागया है। उल्लेख इस प्रकार है —

पाखण्डं व्रतमित्याहुस्तद्यस्यास्त्यमलं भुवि ।
स पाखण्डी वदन्त्यन्ये, कर्मपाशाद् विनिर्गतः ॥

अर्थात्—पाखण्ड व्रत को कहते है। व्रत जिसका निर्मल होता है ऐसा कर्म–बन्धन से मुक्त पुरुष पाखण्डी अर्थात सुव्रती कहलाता है।

गृहस्थ के आवश्यक कर्त्तव्यों मे 'प्रतिक्रमण' भी एक आवश्यक कर्त्तव्य है। सम्यग्दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र मे जो अतिचार लगे हों उनका प्रतिक्रमण किया जाता है। अर्थात् कृत पापों का प्रायश्चित तथा आलोचन किया जाता है।

सम्यक-दर्शन अर्थात् विशुद्ध श्रद्धान मे शंका कांक्षा विचि-[illegible] परपाखण्डप्रशसा, परपाखण्डसंस्तव, यह पाच अतिचार हैं। इन पांच अतिचारों मे आये हुए अन्तिम दो अतिचार

परपाखण्डप्रशंसा तथा परपाखण्डसंस्तव—पर यहाँ विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है।

'पाखण्ड' का अर्थ यदि सिर्फ दंभ या कपट ही माना जाय तो उससे पहले 'पर' विशेषण लगाने की क्या आवश्यकता थी ?

'अगर मैंने 'पाखण्ड' की प्रशंसा की हो तो मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' इतना कहने से पाखण्ड-प्रशंसा के दोष से रहित हो-सकते है। ऐसा न कह कर'परपाखण्डप्रशंसा'किस उद्देश्य से कहा गया है ? पाखण्ड शब्द का एक अर्थ दंभ भी है, जो लोक मे बहुत प्रचलित है। मताग्रही लोग दूसरे के धर्म का तिरस्कार करने के लिए उसे पाखण्ड शब्द से पुकारते हैं। एक दूसरे पर आक्षेप करते हुए शैव वैष्णवों को, वैष्णव शैवों को, जैन अन्य धर्मावलम्बियों को और अन्यधर्मी जैनधर्मी को पाखण्डी शब्द से संबोधन करते है।

मगर पाखण्ड शब्द का अर्थ सभी जगह 'दंभ-कपट' करना शास्त्रसम्मत नहीं है। पापों का नाश करने वाला व्रत भी पाखण्ड कहलाता है। जैनशास्त्र मे ऐसा उल्लेख मिलता है।

स्थानांगसूत्र मे पाखण्डधर्म का उल्लेख मिलता है, जिसमे व्रतधारियों का धर्म भी प्रतिपादित किया गया है।

प्रश्नव्याकरण-सूत्र के द्वितीय संवरद्वार मे भी इस शब्द का प्रयोग पाया जाता है:—

'अणेगपाखंडिपरिग्गहियं ।' *

अर्थात् अनेक व्रतधारियों द्वारा स्वीकार किया हुआ व्रत पाखण्ड कहलाता है। जिन्होंने उस व्रत को अंगीकार किया हो वे पाखण्डी कहलाते हैं। इन पाखण्डियों अर्थात् व्रतधारियों के द्वारा सत्यव्रत ग्रहण किया गया है अतएव वह 'अनेकपाखण्डी परिगृहीत' कहलाता है।

पाखण्ड शब्द का अर्थ सिर्फ 'दंभ' होता तो श्रमण के विशेषण के रूप मे 'पाखण्डी' शब्द का प्रयोग न किया जाता।

श्री दशवैकालिक सूत्र में 'समण-श्रमण' शब्द की व्याख्या करते हुए 'पाखण्डी' शब्द 'व्रतधारी' अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है।

गाथा यह है—

> पव्वइए अणगारे, पासण्डे चरग तावसे भिक्खू।
> परिवाइए य समणे निग्गंथे संजए मुक्के ॥

अर्थात्—श्रमण-साधु को प्रव्रजित, अनगार, पाषण्डी, चरक, तापस, भिक्षु, परिव्राजक, निर्ग्रन्थ, संयत, और मुक्त, आदि अनेक नामों से संबोधित किया जाता है।

इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता कि स्थानांग, प्रश्नव्याकरण और दशवैकालिक आदि सूत्रों में 'पाखण्ड' शब्द व्रत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

टीका—* अनेकपाखंडिपरिगृहीत—नानाविधव्रतिभिरङ्गीकृतम्।

अतएव पाखण्ड का अर्थ हुआ व्रत। व्रत पाप से रक्षा करता है और पाप का खण्डन करता है। जिसमे इतना व्रताचार होता है उसे पाखण्डी या व्रती कहते हैं। यह पाखंडधर्म अर्थात व्रतधर्म ग्राम, नगर और राष्ट्र मे फैलने वाले दंभ-अधर्म को रोकता है और धर्मभावना जागृत करता है। अगर पाखण्डधर्म से धर्मप्रचार के बदले अधर्म फैलता है तो उसे 'धर्म' कैसे कहा जा सकता था ? वास्तव मे पाखण्डधर्म, धर्म की रक्षा और अधर्म का नाश करता है। अतएव पाखंड, दभ का द्योतक नहीं वरन् धर्मव्रत या व्रतधर्म का सूचक है।

पाखण्ड शब्द के अर्थ मे लौकिक और लोकोत्तर-दोनों प्रकार के व्रतों के पालन का समावेश हो जाता है। साधु-अवस्था में जैसे व्रतों का पालन होता है, गृहस्थावस्था मे भी व्रतों का पालन हो सकता है, और होता भी है। शास्त्र मे कहा है—

'गिहिवासे वि सुव्वया'—उत्तराध्ययनसूत्र।

अर्थात गृहस्थ-अवस्था मे रह कर भी जो पुरुष सुव्रत का पालन करता है वह सुव्रती* कहलाता है।

---

* आदर्श गृहस्थाश्रम की मर्यादा मे रह कर धर्म के नियमो का समुचित रूप से पालन किया जाय तो आगे जाकर वह त्यागी गृहस्थ आदर्श त्यागी जीवन व्यतीत करके कूर्मापुत्र केवली के समान सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बन सकता है। गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व को निभाते हुए त्यागी जीवन बिताना सरल नहीं है। ऐसा करना तलवार की धार पर चलना है। इस दृष्टि से पाप-श्रमणोंकी अपेक्षा त्यागमय जीवन यापन करने वाले सुश्रावक सुव्रती होते हैं। साधुता प्रकट करनेकी पहली मंजिल सुश्रावक बनना है।

धैर्य, क्षमा, सद्भाव आदि सद्गुणों का सेवन करना भी एक प्रकार का सुव्रत है। कहा भी है.—

'सत्पुरुषा धृतसुव्रताः'

अर्थात्—सज्जन-सत्पुरुष धैर्य आदि सद्गुणों का सेवन करते हैं, वे सुव्रती कहलाते हैं।

विपदाओं के पहाड़ टूट पड़ें, खाने पीने के फाके पड़ते हों, तब भी जो धीर वीर पुरुष अपनी उदार प्रकृति को स्थिर रखता हुआ, अपने सदाचार से तिल भर भी नहीं डिगता, वह सच्चा सुव्रती कहलाता है। जहां सुव्रतियों की सख्या जितनी अधिक होती है वह ग्राम, नगर और वह देश उतना ही सुरक्षित रहता है। सुव्रतियों के सदाचार रूप प्रबल बल के मुकाबिले शत्रुओं का दल-बल निर्बल—निस्तेज बन जाता है।

नीतिकारों ने ठीक ही कहा है—

प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम्,
असन्तो नाभ्यर्थ्याः सुहृदपि न याच्यस्तनुधनः।
विपद्युच्चैः स्थेयं पदमनुविधेयञ्च महताम्,
सतां केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥

आपत्ति आने पर भी अपना मस्तक ऊंचा रखना, महान पुरुषों के चरण चिह्नों पर चलना, न्याययुक्त आजीविका मे अनुराग रखना, प्राण जाने का प्रसंग उपस्थित होने पर भी पाप कर्म मे प्रवृत्त न होना, दुर्जनों से किसी वस्तु की याचना न करना,

निर्धन मित्रों के सामने हाथ न फैलाना, यह असिधाराव्रत (तलवार की धार पर चलने के समान कठोर व्रत) सज्जनों को किसने सिखाया है? अर्थात् यह सद्गुण सज्जन पुरुषों मे स्वाभाविक ही पाये जाते हैं।

जब ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म, इन तीनों धर्मों का यथोचित पालन होता है तब व्रत रूप पाखण्ड धर्म का उदय स्वतः हो जाता है। और पाखण्डधर्म के उदय से धर्मशील मनुष्यों मे रही हुई शक्ति और स्फूर्त्ति का विकास होता है। शक्ति और स्फूर्त्ति का विकास होने पर धर्मप्रिय व्यक्ति कठिन व्रतधर्म का भी पालन कर सकता है और अपनी धर्मप्रियता का जगत् को परिचय देकर जन समाज के समक्ष उच्च आदर्श उपस्थित कर सकता है। ऐसे व्रतधारी कष्टों और संकटों के आने पर मेरु पर्वत के समान निष्कंप-अटल बने रहते हैं। प्राण जाते हों तो जाएँ, पर धर्म न जाय, इस प्रकार का सुदृढ़ संकल्प करने वाला और उस पर अड़ा रहने वाला धीर पुरुष सच्चा व्रतधारी है। ऐसे सुव्रती के सदाचार के प्रसाद से देश, समाज और धर्म उन्नत बनते हैं।

महापुरुषों ने धर्म की जो मर्यादा स्थिर की है, उस मर्यादा का घोर संकट के समय भी उल्लंघन न करना व्रतधारी का महान-व्रत है।

'न्यायवृत्ति रखना और प्रामाणिक रहना' यह सुव्रतियों का मुद्रालेख है। यह मुद्रालेख उन्हे प्राणों से भी अधिक प्रिय होता है। सुव्रत अन्याय के खिलाफ अलख जगाता है। वह न स्वयं अन्याय करता है और न सामने होने वाले अन्याय को चौटा

टुकुर-टुकुर देख सकता है। वह अन्याय का प्रतिकार करने के लिए कटिबद्ध रहता है। अन्याय का प्रतिकार करने मे वह अपने प्राणों को हँसते हँसते निछावर कर देता है। वह समाज और देश के चरणों मे अपने जीवन का बलिदान देकर भी न्याय की रक्षा करता है। सुव्रतियों का सुव्रत ऐसा कठोर होता है।

पर आजकल के व्रतधारी कहलाने वालों की मनोदशा एकदम विपरीत जान पड़ती है। आज तो ऐसी दशा है कि फूटी कौड़ी के लिए, अपने तुच्छ स्वार्थ की सिद्धि के लिए सत्य को असत्य, न्याय को अन्याय और धर्म को अधर्म कहते हुए भी अनेक व्रतधारी कहलाने वाले लोग, तनिक भी नही झिझकते। पर उन्हे इतना जान लेना चाहिए कि नाम से व्रतधारी होने से कुछ बनता नही है। व्रतधारी बनना तलवार की धार पर चलना है।

आज धर्म अधर्मका विवेक नष्टप्राय हो रहा है। इसी कारण जन-समाज मे ऐसी मिथ्या धारणा घुस गई है कि जितनी देर सामायिक मे बैठा जाय, बस उतना ही समय धर्म मे व्यतीत करना आवश्यक है। सामायिक समाप्त की, दूकान पर पैर रक्खा और और धर्म भी समाप्त हुआ। दूकान पर तो पाप ही पाप करना होता है। वास्तव मे यह धारणा भ्रमपूर्ण है। सामायिक मे बैठ जाने मात्र से धर्म नही होता। रात-दिन की शुभ-अशुभ प्रवृत्तियो से ही पुण्य-पाप का हिसाब होता है।

फिर सामायिक मे भी शुद्ध धर्मक्रिया कहां की जाती है? बहुत बार सामायिक के समय भी चुगली, परनिन्दा, क्रोध आदि दुष्ट मनोवृत्तियो का सेवन करके, पुण्योपार्जन के बदले पाप की [illegible] की जाती है। सामायिक, समभाव सीखने का अमोघ और

अतिशय प्रशस्त साधन है। समभाव सीखने के बदले, अगर सामायिक में भी निन्दा-विकथा, क्रोध लोभ आदि विभावों का मैल संचित किया तो सामायिक व्रत का पालन नहीं हो सकता। व्रत का उचित रूप से पालन न होने से शुभ परिणाम के बदले प्राय: अशुभ परिणाम होता है। सामायिक जैसा पावन व्रत समभाव का पोषक और आत्मोन्नति का साधक होना चाहिए। ऐसा करने में ही व्रतधारी की शोभा है।

सामायिक व्रत का दुरुपयोग करने के बदले अगर सदुपयोग किया जाय तो अपने घर में, समाज में, देश में सदैव उठ खड़े होने वाले अनेक रगड़े-झगड़े और क्लेश अपने आप ही समाप्त हो सकते हैं। इतना ही नहीं, सामायिकव्रत का पालन करने से कचहरी में जाकर अनेक झूठे सच्चे दाव खेलने के प्रपंच भी निश्चित रूप से नष्ट हो सकते हैं। धर्मशास्त्र एक प्रकार का आध्यात्मिक 'पिनल कोड' है। धर्मसूत्रों के धार्मिक, नैतिक और आध्यात्मिक कायदे-कानून इतने सुन्दर और न्यायसंगत हैं कि अगर हम निर्दोष भाव से उनका अनुकरण करें तो देश, समाज या कुटुम्ब में घुसे हुए अनेक प्रकार के पारस्परिक वैर भाव स्वत: शान्त हो सकते हैं। मगर धर्मशास्त्रों के कानूनों का पालन करना सामान्य जनता के लिए सरल नहीं है। जो पुरुष सुव्रती हैं, जिनकी आत्मा धर्म के रंग में रंगी हुई है, वही धर्मवीर धर्म-व्रत का भलीभाँति पालन कर सकते हैं।

सच्चा व्रतधारी, सद्धर्मी पुरुष, प्राणों का नाश होने पर भी धर्म का नाश नहीं होने देता।

दृढ़ता पूर्वक धर्म का पालन किस प्रकार किया जाता है, इस प्रश्न का अच्छा उत्तर सुदर्शन श्रावक के जीवन चरित्र से मिलता है।

सुदर्शन श्रावक ने शूली पर चढ़कर प्रसन्नतापूर्वक प्राणोत्सर्ग करना स्वीकार किया पर अभया रानी की प्रार्थना स्वीकार न की। क्या उसे अपने प्राण प्यारे नहीं थे? हम इस प्रश्न का उत्तर दें, उससे पहले ही सुदर्शन सेठ की आत्मा बोल उठेगी,—'मुझे प्राण प्यारे थे, पर धर्म प्राणों से भी अधिक प्यारा था। मेरा अन्तरात्मा धर्मरक्षा के लिए प्राणोत्सर्ग करने की प्रेरणा करता था।'

इसी प्रकार का एक और उदाहरण व्रतपालन की कठिनता और महत्ता समझाता है वरुण नामक, बारह व्रतों को धारण करने वाला एक श्रावक राज्याधिकारी था। वह व्रतपालनके साथ ही साथ अपने कर्त्तव्य के अनुसार राज्यकार्य-संचालन भी करता था।

एक बार किसी राजा ने, वरुण के स्वामी राजा पर अचानक हमला बोल दिया। राजा ने अपने राज्याधिकारियों को शस्त्रास्त्र से सेना सजाने की आज्ञा दी।

सेना तैयार हुई। अधिकारी गण सेना के साथ चले। सेना युद्धभूमि में आ डटी।

दोनों तरफकी सेनाओंका आमना सामना हुआ और थोड़ी ही देर में घोर संग्राम छिड़ गया। परस्पर में शास्त्रोंका प्रहार होने लगा। ... को भी युद्ध में सम्मिलित होने का आदेश दिया गया। ... ने कहा—

जो कोई अत्याचारी अन्यायी मुझ पर शस्त्र उठाएगा, मैं भी उसके विरुद्ध शस्त्र का प्रयोग करूंगा। अलबत्ता, निरपराध जीवों को न मारने की मेरी व्रत प्रतिज्ञा है। मैं अपने प्राणों का खतरा उठा करके भी इस प्रतिज्ञा का पालन करूंगा। युद्ध में सम्मिलित होने के राजकीय आदेश को शिरोधार्य करना मेरा पहला कर्त्तव्य है, साथ ही निरपराधों पर हाथ न उठाने की व्रत-प्रतिज्ञा का पालन करना भी मेरा कर्त्तव्य है।

वरुण युद्ध में शामिल हुआ। अन्त में सनसनाता हुआ एक तीर आया और वरुण के हृदय में बिंध गया। वरुण उसी समय जमीन पर गिर गया। अपराधी जीव को अपराध का बदला देने में व्रत भंग नहीं होता, यह जानकर उसने संभल कर हाथ में अस्त्र-शस्त्र लिये और एक जैन वीर की भाँति अपने व्रत की रक्षा करता हुआ दिलोजान से लड़ा। उसने राजाज्ञा और व्रत प्रतिज्ञा दोनों का पालन करके अपने पवित्र कर्त्तव्य का निर्वाह किया। राष्ट्ररक्षा और व्रत-प्रतिज्ञा का पालन करने के लिए, अपने प्राणों का बलिदान देकर वीर वरुण मृत्यु का आलिंगन करके अमर बन गया*।

शास्त्र में वर्णित यह दृष्टांत क्या शिक्षा देते हैं? यही कि अशाश्वत शरीर की रक्षा के निमित्त शाश्वत धर्म का नाश मत करो। मनुजी का यह धर्म-सूत्र हमें धर्म-रक्षा का कर्त्तव्य समझाता है —

धर्म एव हतो हन्ति,
धर्मो रक्षति रक्षितः।

* देखो भगवती सूत्र।

अर्थात्—अगर हम धर्मका नाश करेंगे तो धर्म हमारा नाश करेगा और यदि हम धर्म की रक्षा करेंगे तो धर्म हमारी रक्षा करेगा।

धर्म पालन करना कितना कठिन है, इस बात को समझने के लिए एक प्रसिद्ध उदाहरण और लीजिये।

जोधपुर के राठौड़ वीर दुर्गादास का नाम शायद ही किसी ने न सुना हो। वह एक सच्चा राजपूत-नर-वीर था। वह दृढ़ धर्मी और स्वामीभक्त सेवक था।

एक वार दुर्गादास औरंगजेब बादशाह के पंजे में पड़ गया। वहाँ बादशाह की बेगम गुलनार इस नर-वीर का ओजस् देख कर पागल होगई। वह दुर्गादास के पास एकान्त में आई और अपने आपको अपनाने के लिए उससे प्रार्थना करने लगी। उसने दुर्गादास को अनेक प्रलोभन भी दिये। वह कहने लगी—'हे नर-वीर! अगर तुम मेरी प्रार्थना स्वीकार करो तो आज ही इस बादशाह का काम तमाम करके तुम्हें दिल्ली का सम्राट् बना दूंगी।'

दुर्गादास बेगम की प्रार्थना सुन कर अवाक् रह गया। वह सोचने लगा—बेगम यह क्या कह रही है?

दुर्गादास दृढ़ धर्मी था। वह नरवीर था। उसने सिर्फ इतना ही कहा—'मां, तुम यह क्या कह रही हो? तुम मेरी माता हो।'

बेगम 'मां' का शब्द सुनते ही आग बबूला होगई। उसने कहा—दुर्गादास! जरा होश में आओ। 'मां' शब्द बोलते हुए जरा विचार करो, फिर विचार करो। बिना विचारे बात मत कहना।'

अब दुर्गादास चुप था। वह समझता है-मैंने जो कुछ भी कहा है, उसमें बिना विचारा एक भी शब्द नहीं है। उसे अपने शब्दों पर पूरा २ विश्वास था। वह स्वयं निर्भय था। उसे किसी का भय न था। प्राणों का भी भय न था। भय था तो सिर्फ पाप का। अतएव जब बेगम कह चुकी तो दुर्गादास ने कहा—'मां, मैं जो कुछ भी कह रहा हूँ, विचारपूर्वक ही कह रहा हूँ। जान पड़ता है, तुम स्वयं बे भान हो रही हो।'

बेगम गुलनार को दुर्गादास के यह शब्द ऐसे मालूम हुए, जैसे तीखा तीर हृदय में चुभ रहा हो। वह नागिन की नाईं फुंसकार उठी। बोली—'जानते हो, मेरे वचनों की अवगणना करने वाले की दुर्गति होती है? अच्छी तरह समझ लो, मेरी आज्ञा का उल्लंघन करने वाले को इस तलवार का शिकार होना पड़ता है। खूब समझ-बूझ लो और अन्तिम निर्णय कर लो। एक ओर दिल्ली का रत्नजड़ित सिंहासन है, हिन्दुस्थान की बादशाहत है, गुलनार है, और दूसरी ओर यह लपलपाती तलवार है। बोलो, क्या इरादा है?

गुलनार आगे कुछ और कहना चाहती थी कि इतने में ही दुर्गादास निर्भय सिंह की तरह गरज उठा—'मां, मैं तुम्हारे मुख से इस प्रकारके गन्दे शब्द सुनना नहीं चाहता। मेरा प्राण सदाचार की बलिवेदी पर चढने के लिए तड़प रहा है। मुझे प्राण की परवाह नही है। मुझे सदाचार की चिन्ता है। मैं प्राणों की अपेक्षा सदाचार को अधिक प्यार करता हूँ।

दुर्गादास का यह सदाचारधर्म हमारे सामने क्या आदर्श उपस्थित करता है? वह सदाचार की महिमा का प्रकाश करता है।

सदाचार धर्म ही मनुष्य का सच्चा मित्र है। इस सच्चे मित्र की जिस दिन तुम अवगणना करोगे उसी दिन से तुम्हारे धार्मिक जीवन का अधःपतन आरम्भ होगया है, यह निश्चित समझ लेना।

अगर तुम अपना जीवन सफल बनाना चाहते हो तो व्रत पालन में दृढ़ रहना। जिस व्रत को अंगीकार करलो उससे चिपटे रहो। उसे पूर्ण रूप से निभाने के लिए सतत उद्योग करो।

कुछ लोग कहते हैं—व्रत संबन्धी प्रतिज्ञा लेने की आवश्यकता ही क्या है? उन्हें समझना चाहिए व्रतपालन की प्रतिज्ञा संकट के समय एक सबल मित्र का कार्य देती है। प्रतिज्ञा अध पतन से बचाती है और धर्म का सच्चा मार्ग बताती है। महात्माजी (गांधीजी) आज महात्मा बन सके, इसका अधिकांश श्रेय उनकी माताजी द्वारा दी हुई प्रतिज्ञा को प्राप्त है। उसी प्रतिज्ञा की बदौलत आज महात्माजी महान बन सके हैं। संकट के समय व्रत पालन का स्मरण कराने वाली, व्रतपालन के लिए बारम्बार प्रेरित करने वाली और प्रबल प्रलोभनों के समय संयम का मर्म समझाने वाली प्रतिज्ञा ही है। प्रतिज्ञा हमारा सच्चा मित्र है। ऐसे सच्चे मित्र की अवहेलना कैसे की जा सकती है?

व्रत के विषय में अब तक जो विचार किया गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पाखण्ड का अर्थ व्रत है, और लौकिक एवं लोकोत्तर धर्मव्रत को अंगीकार करने वाला 'पाखण्डी (व्रती) कहलाता है।

ग्रामधर्म, नगरधर्म तथा राष्ट्रधर्म को जीवन में मूर्तिमान रूप देने के लिए व्रतधर्म को अंगीकार करना आवश्यक है। इस दृष्टि से ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म के बाद पाखण्ड धर्म का वर्णन किया गया है।

५

कुलधर्म

[कुलधम्मे]

वसे गुरुकुले णिच्चं

आज लोग कुलधर्म –कुलीनता को भूल कर केवल कुल शब्द से चिपट कर उच्च-नीच की व्याख्या करते है। इस कारण देश और समाज मे घोर विषमता और अव्यवस्था फैल रही है। कुलीनता की तराजू पर जिस दिन उच्चता-नीचता तोली जाएगी उसी दिन लोगों की भ्रमणा भाग जायगी। उस समय साफ़ मालूम होगा कि यह संकीर्ण जातिवाद समाज की बुराई है और गुणवाद समाज का आदर्श है।

'संस्कारिता, नागरिकता, राष्ट्रीयता और धर्मशीलता के पारस्परिक सबन्ध के विषय मे विचार किया जा चुका। अब यह विचार करना है कि इन सब सद्गुणों का विकास मानव समाज मे कब किस प्रकार होता है? जरा गहराई से विचार किया जाय तो स्पष्ट मालूम हो जायगा कि उपर्युक्त सद्गुणों का उद्भवस्थान गृह-संस्कार हैं। माता-पिता के सद्व्यवहार से गृह-संस्कार

सुधरते हैं। यही गृह-संस्कार सुधरते-सुधरते कुटुम्ब-संस्कार का रूप धारण करते हैं और जब उन कौटुम्बिक संस्कारों का क्षेत्र कुछ विस्तीर्ण होता है तब वे संस्कार सम्पूर्ण कुल के संस्कार बन जाते हैं। इस प्रकार कुल के संस्कार, गृह और कुटुम्बके संस्कारों में से घड़े हुए विस्तीर्ण संस्कार मात्र हैं।

कुल की संस्कृति से जिस कुलीनता का उद्भव होता है, वही कुलीनता मानव-समाज में सुख-शान्ति का बीजारोपण करती है। कुल के आचार-विचार विकसित होते-होते जाति के आचार-विचार बनते हैं, जाति के आचार-विचार संघ के आचार-विचार के रूप में परिणत हो जाते हैं और संघ के आचार-विचार का प्रभाव समूचे राष्ट्र पर पड़े बिना नहीं रहता।

भलीभांति विचार करो तो जान पड़ेगा कि मानवसमाज की सुख-शान्ति की वृद्धि करने में कुलधर्म का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आज विश्वशान्ति खतरे में पड़ी हुई है, इसके अनेक कारणों में से एक कारण कुलधर्म की अवहेलना भी है।

कुल-धर्म क्या है? कुलधर्म मानव-समाज का कितना कल्याण-साधन कर सकता है? कुलधर्म के पुनरुद्धार से समाज, धर्म और राष्ट्र का कल्याण किस प्रकार हो सकता है? इन प्रश्नों पर यहां संक्षेप में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जायगा।

परिजनों का समूह कुल कहलाता है। धर्म का अर्थ कर्त्तव्य है। परिजनों के समूह का आचार-विचार कुलाचार कहलाता है।

जिस आचार-विचार से, जिस व्यवहार से और जिस कार्य-पद्धति से कुल की प्रतिष्ठा बढ़ती है, कुल की खानदानी बढ़ती है,

कुल की मानमर्यादा बढ़ती है, कुल ऊंचा बनता है संक्षेप में कुल में 'कुलीनता' आती है वह आचारविचार, व्यवहार और कार्य-पद्धति 'कुलधर्म' है।

कुल का क्षेत्र काफी विस्तीर्ण है। कुल की मर्यादा में कुटुम्ब का और घर की मर्यादा का समावेश हो जाता है।

कुल के संस्कारों को विशुद्ध बनाने के लिए सबसे पहले घर के और कुटुम्ब के संस्कार सुधारने की आवश्यकता होती है, क्योंकि घर संस्कृति का सर्जन करने की सजीव शाला है। नन्हे नन्हे बालक उस शाला के शिष्य हैं और माता पिता उसके शिक्षक हैं।

ज्यों ज्यों बालक की संस्कृति का क्षेत्र बढ़ता जाता है त्यों त्यों उसके गृहसंस्कार भी कुटुम्ब संस्कारों के रूप में परिणत होते जाते हैं। बालक जब थोड़ा बड़ा होता है तो वह घरका आंगन छोड़ कर कुटुम्ब के आंगन में पैर धरता है और वहां के संस्कार ग्रहण करता है। अपने घर में ही मिले हुए संस्कारों का और पड़ौसी कुटुम्बी के घर में मिले हुए संस्कारों का बालक में संमिश्रण होता रहता है। पर जैसे जैसे बालक की बुद्धिका विकास होता जाता है, वह गृहसंस्कारों और कुटुम्ब-संस्कारों का पृथक्-करण करता चला जाता है। फिर भी गृहसंस्कार और कुटुम्ब के संस्कार उसके व्यक्तित्व का निर्माण करने में प्रधान भाग लेते हैं।

बालक जब कुछ और बड़ा होता है तब वह घर का और कुटुम्ब का भी आंगन छोडकर गलियों में खेलना सीखता है और फिर गलियों में से कुल के घरों तक जा पहुंचता है। वहां उसे

नवीन संस्कार मिलते हैं और वह उन्हे अपनाता जाता है। अन्त मे वह कुलधर्म को समझने लगता है और उसी के अनुसार व्यवहार करने का प्रयत्न भी करता है।

जब बालक की बुद्धि कुलधर्म को समझने के योग्य परिपक्व होती है, तब वह यह भी समझने लगता है कि उसका कुलधर्म मुख्य रूप से दो भागो मे बॅटा हुआ है। एक कुलधर्म लौकिक है, जो माता-पिता, सगे-संबन्धी, तथा अन्य गुरुजनो की आज्ञा पालन करते हुए वंशवृद्धि का, वंश के पालन का, वश की व्यवस्था का और लोकजीवन की समुचित शिक्षा-दीक्षा वा उपदेश देता है। दूसरा कुलधर्म लोकोत्तर है, जो लोकजीवन को सफल बनाने का उपदेश देकर मुक्तिमार्ग की ओर अग्रसर होने की शिक्षा देता है।

लौकिक कुलधर्म और लोकोत्तर कुलधर्म, दोनो की शिक्षा दीक्षा देने की प्रणाली भिन्न भले ही जान पड़ती हो मगर दोनो का आदर्श एक ही है-मानवसमाज मे शाश्वत सुख शान्ति की स्थापना करना। लौकिक कुलधर्म इस आदर्श पर पहुॅचने के लिए शुभ प्रवृत्तिमार्ग का विधान करता है और लोकोत्तर कुलधर्म शुभ निवृत्ति मार्गका। और यह शुभ प्रवृत्ति एव निवृत्ति ही धर्मका परिपूर्ण रूप है।

शाश्वत सुख-शांति प्राप्त करने के कुलधर्म के मूल आदर्शको प्राप्त करने के लिए निवृत्तिमार्ग, प्रवृत्तिमार्ग की अपेक्षा अधिक सीधा है परन्तु आचारण मे वह कठिन है। जबकि प्रवृत्तिमार्ग आढ़ा टेढ़ा होने पर भी सुगम है।

साधारण मनुष्यों के लिए निवृत्तिमार्ग सरल नही है। यह

मार्ग उन मुनि महात्माओं के लिए है जो संसारिक भोग तृष्णा से विमुख होकर केवल मोक्ष की सिद्धि के लिए ही सदा श्रमशील रहते हैं। और यह शुभ प्रवृत्ति के चक्करदार मार्ग से जाने वाले बहुत हैं। उनमें से जो लोग कुलधर्म के ध्येय के अनुसार सदाचार और सद्‌विचार (सूत्र-चारित्र धर्म) का सेवन करेंगे वे धीरे धीरे निवृत्ति मार्ग द्वारा मोक्षमार्ग में पहुँच सकेंगे।

लोकोत्तर कुलधर्म के मार्ग पर चलने वालों को भी लोकोत्तर गुरु की पाठशाला में समभाव, सहिष्णुता सम्यक् ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्‌चारित्र आदि की विधिपूर्वक शिक्षा लेनी पड़ती है गुरु के समीप समुचित रूप से शिक्षा दीक्षा लेने वाला मोक्षार्थी शिष्य लोकोत्तर कुलधर्म का पालन कर सकता है और शनैः शनैः अन्त में मुक्ति लाभ कर सकता है।

कुछ लोगों की मान्यता है कि निवृत्तिमार्ग पर चलकर सूत्र-चारित्र धर्म का आराधन करना ही धर्म है। इससे अतिरिक्त प्रवृत्तिमार्ग एकान्त पापमार्ग है। यह मान्यता भ्रमपूर्ण है। जिनकी ऐसी मान्यता है उनसे पूछना चाहिए कि सत्प्रवृत्ति द्वारा कुल के आदर्श उन्नत बनाना भी क्या पाप है ? अगर कुल का आदर्श उन्नत बनाना पापजन्य प्रवृत्ति है तो कुल को अधोगति में पटकना धर्म है ?

लौकिक कुलधर्म का सम्यक् प्रकार से पालन करना सरल नहीं है। सच्ची कुलीनता प्राप्त करने के लिए निरन्तर अध्यवसाय करने की आवश्यकता रहती है। प्राण भले ही चले जाएँ, मगर सच्चा कुलधर्मी अपने पूर्वजों से चले आये सद्‌व्यवहार का त्याग नहीं कर सकता। कुलधर्मी भूखा मर जायगा पर पेट की आग

बुझाने के लिए वह चोरी या असत्य का आचरण करना वज्रपात के समान दुःख मानेगा।

राणा प्रतापने केवल कुलधर्म की टेक रखने के लिए-कुलधर्म की रक्षा के लिए स्वेच्छापूर्वक अनेक दुःखों की परम्परा स्वीकार की थी। उन्होंने अपना वश चलते अपनी कुलकी स्वतन्त्रता नहीं बिकने दी। मनुष्य की कुलीनता की कसौटी दुःख के प्रसंग पर ही होती है। जो पुरुष संकट के समय अपनी कुलीनता की रक्षा करता है वही कुलधर्म का पालन करके 'कुलीन' बनता है।

आज सर्वसाधारण में यह मान्यता प्रचलित होगई है कि उच्च कहलाने वाले कुल में जन्म लेने से ही कुलीनता आजाती है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। मनुष्य की कुलीनता उसकी कुलमर्यादा के अनुसार सत्प्रवृत्तियों पर अवलंबित है।

भगवान महावीर ने जातिवाद के बदले गुणवाद को बहुत महत्व दिया है*। शास्त्र में कहा है—

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइसो होइ, कम्मुणा होइ सुद्दओ॥

अर्थात्— कर्म से ब्राह्मण होता है, कर्म से क्षत्रिय होता है, कर्म से वैश्य होता है और कर्म से शूद्र होता है।

वास्तव मे कोई मनुष्य उच्च कुल मे जन्म लेने मात्र से उच्च नही हो जाता। इसी प्रकार नीच कुल मे जन्म लेने मात्र से कोई नीच नही होता। उच्चता और नीचता मनुष्य की अच्छी और

*जातिवाद और गुणवाद में युग-युगांतर से तीव्र संघर्ष होता आया है। जातिवाद को बर्बाद करने के लिए गुणवाद ने और गुणवाद

बुरी प्रवृत्तियों पर अवलंबित है। मनुष्य सत्प्रवृत्ति करके अपना चारित्र उच्च बनाएगा तो वह उच्च बन सकेगा। जो असत्प्रवृत्ति करेगा वह नीच कहलाएगा। इसी प्रकार नीच कुल में जन्म लेने पर भी सत्प्रवृत्ति करने वाला पुरुष उच्च बन सकता है। नीच कुल मे जन्म लेकर सत्प्रवृत्ति द्वारा ऊँचे दर्जे के महात्मा बने हुए हरिकेशी और मातंग जैसे धर्मगुरुओं का बखान धर्मशास्त्रो में पाया जाता है

आज कुलीनता के आधार पर उच्च-नीच, स्पृश्य-अस्पृश्य का विचार किया जाय तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि जातिवाद, समाज की एक बड़ी भारी बुराई है और गुणवाद समाज का आदर्श है। इसीलिए भगवान् महावीर स्वामी ने गुणवाद का आदर्श जगत् के सामने प्रस्तुत करके जातिवाद की बुराई दूर करने का अथक प्रयास किया था। उन्होंने गुणवाद द्वारा-मानवजीवन के विकास द्वारा, विश्वशान्ति का संदेश जगत् को सुनाया था। भगवान् महावीर का वह दिव्य संदेश आज हम लोगों को फिर से एक बार सुनने की आवश्यकता है। अगर हम उस दिव्य संदेश

को मटियामेट करने लिए जातिवाद ने अपना अपना बल आजमाया है। मगर मानवशक्ति के मुकाबिले पाशव शक्ति सदा ही परास्त हुई। गुणवाद का प्रचार करने के लिए भगवान् महावीर ने, महात्मा बुद्ध ने तथा अनेक महर्षियों ने प्रबल प्रयत्न किये हैं। यही कारण है कि उनके द्वारा उपदिष्ट श्री आचारांग, उत्तराध्ययन आदि जैन सूत्रों मे धम्मपद और सुत्तनिपात, संयुक्तनिकाय आदि बौद्ध ग्रन्थो मे तथा भगवद्गीता, उपनिषद आदि वैदिक ग्रन्थों मे गुणवाद से संबंध रखने वाली प्रचुर सामग्री आज भी उपलब्ध होती है।

को सुने और समझ सके तो देश में आज उच्च-नीच की, स्पृश्य-अस्पृश्य की जो जटिल समस्या उत्पन्न हो गई है, उसका सहज ही समाधान हो सकता है।

आज लोग कुलधर्म-कुलीनता को भूलकर केवल 'कुल' से, चिपट कर उच्च-नीच की व्याख्या करते हैं। इस कारण देश और समाज में घोर विषमता और अव्यवस्था फैल रही है। कुलीनता की तराजू पर जिस दिन उच्चता नीचता तोली जायगी उसी दिन लोगों की भ्रमणा भाग जायगी। उस समय साफ मालूम होगा कि यह संकीर्ण जातिवाद, समाज की बुराई है और गुणवाद समाज का आदर्श है।

कुलीनता धर्मसाधन का एक अंग है। जब तक मनुष्य अपने कुलधर्म का भलीभांति पालन न करे तब तक वह श्रुत-चारित्र-धर्म और 'आत्मिक धर्म' का आचरण करने में समर्थ नहीं हो सकता। श्रुत-चारित्रधर्म का आधार कुलधर्म है। जहां कुलधर्म न होगा वहां आत्मिक धर्म कैसे रह सकता है?

कुछ लोग यह तर्क उपस्थित करते हैं कि कुलधर्म सांसारिक कर्त्तव्य की शिक्षा देता है, ऐसी स्थिति में उसे धर्म कैसे कहा जा सकता है? यह तर्क भ्रमपूर्ण है। तर्क करने वाले को जानना चाहिए कि कुलधर्म जैसे लौकिकधर्म की शिक्षा देता है उसी प्रकार लोकोत्तर धर्म की भी शिक्षा देता है। इसके अतिरिक्त लोकोत्तर धर्म का आधार लौकिक धर्म है। अतएव अगर लौकिक धर्म व्यवस्थित रूप से न चले तो लोकोत्तर धर्म भी खतरे में पड़ जाता है। इसी लिए भगवान् महावीर ने लौकिक और लोकोत्तर धर्म का समन्वय किया है। श्रावक और श्राविका लौकिक धर्म का

प्रतिनिधित्व करते है और साधु तथा साध्वी लोकोत्तर धर्म का। चतुर्विध संघ के यह चार प्रतिनिधि आपस की सहमति पूर्वक सम्बन्ध न रक्खे तो जैनधर्म जोखिम मे पड़ जाय। भगवान् महावीर के द्वारा की हुई संघशासन की योजना इतनी सुन्दर और व्यवस्थित है कि इसी योजना के कारण आज जिनशासन निर्विघ्न रूप से प्रवर्त्त रहा है।

लौकिक धर्म के प्रतिनिधियों—श्रावक-श्राविकाओं— को लौकिक धर्म का यथावत् पालन करना चाहिए। और लोकोत्तर धर्म के प्रतिनिधियों—साध्वी-साध्वी, को—लोकोत्तर धर्म का यथा-योग्य पालन करना चाहिए। इस प्रकार भगवान् के अनुयायी जब लौकिक और लोकोत्तर कुलधर्म का भलीभांति पालन करेंगे तब भगवान के ही शब्दों मे 'जाइसंपन्ने—जातिसम्पन्न और 'कुल-सपन्ने' अर्थात् कुलसम्पन्न बनेंगे। तभी कुलीनता रूप धर्मगुण प्रगट होगा। यही धर्मगुण समाज और देश में सुख शान्ति का बीजारोपण करेगा।

गण धर्म

[गण धर्म]

——:०:——

गणतन्त्र-प्रजातन्त्र भारतवासियों की पुरानी वसीयत है। अगर हम में अन्याय मात्र का सामना करने का नैतिक बल मौजूद हो तथा निस्सार मतभेदों एवं स्वार्थों को तिलांजलि देकर राष्ट्र, समाज और गणधर्म की रक्षा करने के लिये बलिदान करने की क्षमता आजाय तो किसका सामर्थ्य है जो हमें अपने पूर्वजों की संपत्ति के अधिकार या उपयोग से वंचित कर सके ? गणधर्म मे जो असीम शक्ति विद्यमान है, उसका अगर हम लोग सदुपयोग करना सीख ले तो जैनधर्म विश्व में सूर्य की भांति चमक उठे।

गण अर्थात् समूह। गण का प्रत्येक सभ्य राष्ट्र की प्रतिष्ठा तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी रहे, उसे कहते है गणतन्त्र। सबल के द्वारा निर्बल का सताया जाना या इसी प्रकार का कोई दूसरा अत्याचार गणतन्त्र कभी सहन नहीं कर सकता। निर्बल की सहायता करना, निर्बल को न्याय दिलाने के लिए सर्वस्व का भोग देना पड़े तो भी पैर पीछे न देना, यह गणधर्म पालने ों का महान् व्रत होता है।

गणतन्त्र की यह व्यवस्था आधुनिक प्रजासत्तात्मक राज्य-प्रणाली से तनिक भी उतरती श्रेणी की नहीं थी। जैनयुग मे नव-लिच्छी और नवमल्ली जाति के अठारह गण राज्यों का गणतन्त्र इतिहास मे प्रसिद्ध है। अठारह गणराज्योंका यह गणतन्त्र सबलों द्वारा सताई जाने वाली निर्बल प्रजा को पीड़ा से मुक्त कराने के लिए और उनकी सुख-शान्ति की व्यवस्था करने के लिए तन, मन, धन का व्यय करने मे नहीं झिझकता था। असहायों की सहायता करने मे ही गौरव मानता था।

गणतन्त्र की इस पद्धति मे गणधर्म का पालन करने वाली प्रजा को कितना सहन करना पड़ता था उसका इतिहास-प्रसिद्ध उल्लेख* जैन-शास्त्रों मे मिलता है।

कहते हैं, जब बड़े भाई कोणिक को मगध का महाराज्य मिला तो विहल्लकुमार-कोणिक का छोटा भाई अपने मातामह राजा चेटक के पास आकर रहने लगा। राजा कोणिक ने वैशाली में जा बसने वाले विहल्लकुमार से हाथी और हार की माँग की। मगध सम्राट् कोणिक को हाथी और हार मागने का कोई अधिकार नहीं था। कोणिक को मगध का राजसिंहासन मिला था और अन्य भाइयों को भी अपना अपना हिस्सा मिला था। पर कोणिक को अपनी सत्ता और शक्ति का मद था। विहल्लकुमार जहाँ आकर टिका था वहाँ गणतन्त्र की सहायता से राज्यव्यवस्था होती थी। वैशाली के गणतन्त्र के संचालक राजा चेटक थे। जब चेटक को कोणिक के अन्याय का पता चला तो उसने अठारह राजाओं को एकत्र किया और कोणिक के अत्याचार का सामना करने की सलाह दी। उसने कहा—

---

*देखो भी निरयावलिका तथा भगवती सूत्र।

जैसे विहल्लकुमार के अन्य ग्यारह भाइयों को राज्य में से हिस्सा मिला है उसी प्रकार विहल्लकुमार को उसके माता-पिता की ओर से यह हार और हाथी मिला है। इन वस्तुओं पर कोणिक का कुछ भी अधिकार नहीं है। कोणिक अन्यायपूर्वक, अपनी सत्ता के मद में चूर होकर विहल्लकुमार को दवाना चाहता है।

गणतन्त्र के अठारहों राजाओंने कोणिकके अत्याचार के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट किया। यह भी निर्णय हुआ कि अगर युद्ध करने का अवसर आवे तो गणतन्त्र के समस्त राजा एक साथ मिलकर चेटक की सहायता करेंगे। इस घटना से सहज ही समझा जा सकता है कि गणतन्त्रों मे अथवा प्रजातंत्र की राज्यव्यवस्था मे प्रजा के सिर पर कितना गंभीर उत्तरदायित्व होता है। विहल्लकुमार सिर्फ राजा चेटक का भनेज (भागिनेय) था। उसके साथ अन्य राजाओं की कोई नातेदारी नही थी। फिर भी उन्होंने अन्याय अत्याचार के विरुद्ध युद्ध करने का और विहल्लकुमार को अत्याचार से वचाने का निश्चय किया।

जो प्रजा अन्याय और अत्याचार का अपने पूरे बल के साथ सामना नही कर सकती अथवा जो अपने तुच्छ स्वार्थों मे ही संलग्न रहती है, वह प्रजा इस प्रकार के गणतंत्र के लिए अपनी योग्यता साबित नहीं कर सकती।

गणतंत्र के संचालक राजागण चाहते तो युद्ध की भयानकता और हिंसा की आड़ मे अपना बचाव कर सकते थे और विहल्लकुमार को कोणिक की दया पर छोड़ सकते थे। परन्तु वे समझते थे गणतंत्र मे इस प्रकार लंगड़े बचाव को तनिक भी स्थान नहीं है।

अगर छोटे से छोटा भी अत्याचार सहन कर लिया जाय तो गणतंत्र का आसन दूसरे ही क्षण काँपने लगेगा। गणधर्म के धुरन्धर अवसर आने पर कोणिक जैसे शक्तिशाली सम्राट् से भी युद्ध करने को तैयार होगये। नव मल्ली जाति के और नव लिच्छी जाति के इस प्रकार अठारह राजा चेटक की सहायता करने आ डटे।

गणतंत्र की प्रतिष्ठा की रक्षा के साथ ही, एक के आश्रय में आये हुए राजकुमार के साथ होने वाले अन्याय का प्रतिकार और उसके अधिकार का संरक्षण, यही इस युद्ध का मूल कारण था।

संभव है किसी को यह आशंका उत्पन्न हो कि सत्कार्य को धर्म कहते हैं। यहां तो सिर्फ हार और हाथी न देने के कारण ही घोर संग्राम हुआ। इस संग्राम में असंख्य आदमियों के प्राण गये होंगे। ऐसी स्थिति में अगर हार और हाथी लौटा दिया जाता तो न संग्राम होता और न अनगिनती जानें जातीं। तब हार और हाथी न लौटाकर युद्ध क्यों छेड़ा गया ? क्या यह युद्ध धर्मयुद्ध गिना जा सकता है ?

यह प्रश्न विचारणीय है। इसका समाधान एक शास्त्रीय उदाहरण देने से अधिक स्पष्ट होगा।

राजा परदेशी ने केशी श्रमण के साथ खूब धर्मचर्चा की। अन्त में राजा केशी श्रमण को 'खमाये' (क्षमा याचना किये) बिना ही जाने को तैयार हुआ। तब केशी श्रमण ने कहा—'राजन ! तुमने लम्बे समय तक मेरे साथ बहुत-सी आड़ी टेढ़ी बातें की हैं और अन्त में खमाये बिना ही चले जा रहे हो। क्या यह साधु की अवज्ञा नहीं है ?

राजा परदेशी ने उत्तर दिया—मैं यह भलीभांति समझता हू । आपसे क्षमायाचना न करने की मेरी भावना भी नहीं है मेरा इरादा यह है कि मैं परिवार सहित, सेना लेकर आपकी सेवा में उपस्थित होऊ और आपसे क्षमा-याचना करूं ।

यहां विचारणीय बात यह है कि अगर राजा उसी समय क्षमायाचना कर लेता तो जीवहिंसा कम होती। परिवार और सेना सहित आकर क्षमायाचना करने में जीवहिंसा बहुत होगी। ऐसी स्थिति में सेना और परिवार के साथ आकर क्षमायाचना करने मे राजा परदेशी का क्या आशय रहा होगा ?

अगर परिवार और सेना सहित आकर क्षमायाचना करने में अधिक हिंसा होने की संभावना थी तो केशी श्रमण राजा से कह सकते थे—अगर तुम्हे 'खमाना' है तो इसके लिए परिवार को लाने की क्या आवश्यकता है ? ऐसा करने मे बहुत अधिक हिंसा होगी । मगर केशी श्रमण स्वामी ने ऐसा कह कर राजा को रोका नहीं । इसका कारण क्या है ?

विचार करने पर प्रतीत होता है कि राजा ने अकेले मे नहीं खमाया, इसका मर्म यह है कि सपरिवार खमाने के लिए आने में धर्म की असाधारण प्रभावना होती है। जन समाज के ऊपर राजा के इस व्यवहार का गहरा प्रभाव पड़ता है। इससे धर्म का विशिष्ट उद्योत होता है ।

इसी उद्देश्य से केशी श्रमण ने राजा परदेशी को सेना सहित खमाने के लिए आने का निषेध नहीं किया । साथ ही आने जाने मे द्वीन्द्रिय आदि प्राणियों की विराधना की संभावना होने के कारण इन्होंने सेना और परिवार सहित आने का आग्रह भी नहीं

किया। इस प्रकार केशी स्वामी ने न तो राजा को आनेकी आज्ञा दी और न उनके आने का निषेध ही किया। इस उदाहरणसे सहज ही समझा जा सकता है कि अधर्म और धर्म का विचार करते समय हमें अनेक दृष्टियों से विचार करना चाहिए। केवल आरम्भ समारम्भ को देखना और उससे होने वाले धार्मिक लाभ की ओर से आंख फेर लेना न्याययुक्त नहीं कहला सकता।

राजा परदेशी मूर्ख न था। वह ज्ञानी था। कदाचित् राजा को अज्ञानी भी मान लिया जाय तो केशी श्रमण तो विशिष्ट ज्ञानी थे। अगर राजा को ऐसा करना उचित न था तो केशी श्रमण ने उसे क्यों नहीं रोक दिया ?

कदाचित् तुम्हें यह शंका हो कि राजा परदेशी की बात श्रुत-चारित्र धर्म से संबंध रखती है, अतएव यह एक जुदी बात है। महाराज कोणिक की बात गणधर्म से संबंध रखती है, अतएव यह एक अलग ही प्रश्न है। दो विभिन्न धर्मों को एक ही कोटि मे कैसे रक्खा जा सकता है ?

यहाँ तो प्रश्न यह है कि अगर हार और हाथी को वापस न लौटाया जाय तो बहुत से मनुष्यों के प्राण जाएँगे, ऐसी स्थिति मे यह युद्ध कैसे उचित कहा जा सकता है ?

प्रश्न ठीक है। जैसे अकेला परदेशी राजा 'क्षमा' कर चला गया होता तो श्रुत चारित्र-धर्म का प्रभाव जन समाज और सेना पर न होता। इस प्रकार गणधर्मी राजा न्याय अन्याय का विचार न करके, केवल युद्ध की भयंकरता का ही विचार करते और कोणिक को हार, हाथी सौंप देते और शरणागत विहल कुमार की सहायता न करते तो प्रजा के ऊपर गणधर्म की महत्ता का प्रभाव

न पड़ता। इतना ही नहीं, वरन् इस स्थिति में प्रजा गणधर्म को 'कायरधर्म' कहती और उसकी महत्ता मिट्टी में मिल जाती। उस समय प्रजा एक स्वर से कहती कि ऐसा डरपोक धर्म किस मर्ज की दवा है ?

इस प्रकार हार और हाथी लौटा देने से अगर गणधर्म जोखिम में पड जाता तो संघधर्म की रक्षा होती या उसका विनाश होता ? यह कहने की आवश्यकता नहीं कि गणधर्म की रक्षा में संघधर्म की रक्षा है। और गणधर्म के विनाश में संघधर्म का भी विनाश है।

'जब तक सिर पर आकर नहीं पडा तब तक तो गणधर्म का स्वांग रचा और जब गणधर्म को कार्य मे परिणत करने का नाजुक प्रसग आया तो गणधर्म को छोड़ दिया।' इस प्रकार की लोकनिन्दा कोणिक को हार और हाथी लौटा देने से सर्व साधारण मे फैलजाती। गणधर्म के इस अवर्णवाद से गणधर्म और राजधर्म कलंकित हो जाते। जैसे राजा परदेशी को सेना और परिवार के साथ क्षमायाचना करने के लिए आने से सम्यक्त्व का लाभ हुआ, इसी प्रकार गणधर्म और राजधर्म की कायरता का कलंक दूर करने के लिए अन्याय, अत्याचार के के प्रतिकार की दृष्टि से और शरणागत विहल्लकुमार की रक्षा की दृष्टि से, कोणिक को हार और हाथी न लौटाने में ही गणधर्म का लाभ था। इसके लिए युद्ध करना आवश्यक होगया था।

यह युद्ध जैनसूत्रों मे 'महाशिलाकंटक' तथा 'रथमूसल' संग्राम के नामों से प्रसिद्ध है। इसमें बहुत से आदमी मारे गये। युद्ध में दैवी सहायता से कोणिक की विजय हुई मगर इतना होने पर भी

गणतन्त्र के धुरन्धरों ने भारी खतरा उठाकर भी अपने गणतन्त्र की प्रतिष्ठा रख ली।

गणतन्त्र—गणधर्म की रक्षा करते हुए जितने मनुष्यों का घात हुआ उन सबका महान् पाप मुख्यतः कोणिक के हिस्से में आता है, क्योंकि उसी ने अन्याय का पक्ष लेकर चढ़ाई आरम्भ की थी। गणतन्त्र का उद्देश्य सिर्फ न्याय की रक्षा करना था।

हम लोग भी आरम्भ समारम्भ को धर्म नहीं मानते। परन्तु धर्म की रक्षा करना तो आवश्यक ही है।

आरम्भ समारम्भ के बहाने से आजकल लोगों ने अपनी धर्म-बुद्धि को तिलांजलि दे दी है। केवल इसी कारण अनेक सामान्य लोग जैनधर्म को डरपोक-धर्म मान बैठे हैं। चेटक राजा तथा नव-लिच्छवी और नव-मल्ली राजा भगवान महावीर स्वामी के भक्त थे। फिर भी उन्होंने गणधर्म की रक्षा करने और उसकी प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए यह युद्ध किया। पहले के मनुष्य इतने विचारशील और धर्मशील थे कि अन्याय को रोकने के लिए अगर युद्ध करना अनिवार्य हो जाय तो उससे एक भी कदम पीछे नहीं हटते थे। वे लोग शरणागत को शरण न देना और उसे न्याय न दिलाना जरा भी उचित नहीं समझते थे।

जो मनुष्य शरण में आये हुए का त्याग कर देता है अर्थात् उसे आश्रय नहीं देता वह कायर है। जो सच्चा वीर है, जो महावीर भगवान् का सच्चा अनुयायी सेवक है, जो उदार और धर्मात्मा है, वह अपना सर्वस्व निछावर करके भी शरणागत की रक्षा और सेवा करता है।

इस युद्ध में जितने मनुष्यों का वध हुआ, उनकी हत्या का पाप मुख्यतः महाराज कोणिक के ऊपर इसलिए डाला जाता है

कि उसने अन्याय का पोषण करने के लिए युद्ध का बीजारोपण किया था।

गणतन्त्र के नायकों ने महाराज कोणिक को युद्ध न करने के लिए और राजकुमार विहल्लकुमार के प्रति अन्यायपूर्ण व्यवहार न करने के लिए खूब समझाया। फिर भी जब कोणिक ने अन्याय का पक्ष न छोड़ा और युद्ध के लिए तयारी करता दिखाई दिया तो विवश होकर उन्होंने सत्य और न्यायधर्म का पक्ष लिया। शरणागत की और गणधर्म की रक्षा के लिए युद्ध करना उनके लिए अनिवार्य होगया।

चेटक राजा, नवमल्ली और नवलिच्छी जाति के अठारहों राजा सम्यग्दृष्टि थे, और कोणिक भी यद्यपि पहले भगवान महावीर का भक्त था, परन्तु इस समय उसने अन्याय का पक्ष ग्रहण किया था।

एक मनुष्य अगर दुष्ट भाव से प्रेरित होकर एक चिउंटी की हिंसा करता है तो वह पापी है। किन्तु एक चक्रवर्ती राजा, जो अन्याय और अत्याचार का प्रतिकार करने के लिए अपनी चतुरंगी सेना को युद्ध के लिए तैयार करता है, अपराधी नहीं कहलाता। इसका प्रधान कारण यह है कि वह चक्रवर्ती सम्राट् स्वार्थसाधन के लिए, दुष्ट भाव से प्रेरित होकर नहीं वरन् अन्याय और अत्याचार का विरोध करने के लिए, विवश होकर युद्ध करता है।

अगर अन्याय और अत्याचार का विरोध करने लिए कदम न उठाया जाय तो संसार में अन्याय का साम्राज्य फैल जायगा और धर्म का पालन करना असम्भव हो जायगा। जब कि दूसरी ओर कीड़ी का वध करने वाला मनुष्य-संकल्पजन्य हिंसा करने

वाला मनुष्य संकल्पजन्य हिंसा करके अपराधी बनता है।

महाराज कोणिक ने जान-बूझ कर हिंसा की परिस्थिति खड़ी की और अन्याय करने पर उतारू होगया। इस कारण कोणिक को निरपराधों की हिंसा करने का पाप लगा, ऐसा कहा जा सकता है। गणतन्त्र के नायकों ने केवल अन्याय और अत्याचार का विरोध करने की दृष्टि से, विवश होकर युद्ध किया, अतएव इस हिंसा का अपराध गणनायकों को नहीं लग सकता।

गणधर्म के स्वरूप के विषय में अगर हम जरा गंभीर विचार करेंगे तो प्रतीत होगा कि गणधर्म और आज का राष्ट्रधर्म एक दूसरे से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। आज की राष्ट्रीयता अपने गण-धर्म का एक नवीन संस्करण ही है। राष्ट्रधर्म के प्राणों के समान गणधर्म को दिपाने के लिए प्रजा के प्रत्येक सभ्य को धैर्यबल और आत्मभोग कितनी मात्रा में प्राप्त करना चाहिए, यह बात गणधर्म का स्वरूप समझ लेने से स्पष्ट हो जायगी।

गणतन्त्र-प्रजातन्त्र भारतवासियों की पुरानी वसीयत है। अगर हम में अन्याय मात्र का सामना करने का नैतिक बल मौजूद हो तथा निस्सार मतभेदों एवं स्वार्थों को तिलांजलि देकर राष्ट्र, समाज और गणधर्म की रक्षा करने के लिए बलिदान करने की क्षमता आ जाय तो किसका सामर्थ्य है जो हमें अपने पूर्वजों की संपत्ति के अधिकार या उपभोग से वंचित कर सके? गणधर्म में जो असीम शक्ति विद्यमान है, उसका अगर हम लोग सदुपयोग करना सीख लें तो जैनधर्म विश्व में सूर्य की भांति चमक उठे।

७

संघ धर्म

[संघधर्म]

सुखा संघस्स सामग्गी, समग्गानं तपो सुखो।

अर्थात्—संघ की सामग्री (एकता-संगठन) सुखकारक है और ऐक्य-संगठनपूर्वक रहने वाले श्रावक-श्राविका साधु-साध्वी समस्त संघ का तपश्चरण भी सुखकारक होता है। —सुत्तनिपात

जैनधर्म और संघधर्म का अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है। संघधर्म जैनधर्म रूप विशाल प्रासादका जीवन-स्तंभ है। जैसे धर्मी के बिना धर्म नहीं टिक सकता इसी प्रकार संघधर्म के बिना जैनधर्म नहीं टिक सकता।

स्त्री और पुरुष गृहस्थ-जीवन रूपी रथ के दो चक्र हैं। दोनों मे से एक चक्र छोटा, बड़ा, असमान या टूटा-फूटा हो तो गृहस्थ-जीवन का रथ आगे नही बढ़ सकता। इसी प्रकार धर्मरथ के भी दो है—एक श्रावक-श्राविका दूसरा साधु-साध्वी। भगवान् महावीर ने धर्मरथ मे दान और चारित्र रूप दो बलवान बैल

जोतकर कुशल धर्मसारथी बन कर धर्मतीर्थ की स्थापना की है। इसी धर्मतीर्थ की स्थापना करके भगवान् धर्मतीर्थंकर कहलाए। अनेक भव्य जीवों को धर्मरथ में बिठला कर तीर्थंकर प्रभु महावीर ने भयंकर भवाटवी से उन्हें पार लगाया और पार लगने का सन्मार्ग बतलाया।

क्या सजीव और क्या निर्जीव, प्रत्येक वस्तु में, अणु-अणु में, अनंत सामर्थ्य भरा पड़ा है। पर वह सामर्थ्य सफल तब होता है जब उसका समन्वय करके संग्रह किया जाता है। शक्तियों का संग्रह न किया जाय और पारस्परिक संघर्ष के द्वारा उन्हें क्षीण किया जाय तो उनका सदुपयोग होने के बदले दुरुपयोग ही हुआ कहलाएगा। शक्तियों का संग्रह करने के लिए संघर्ष को विवेक पूर्वक दूर करने की आवश्यकता है और साथ ही संघशक्ति को केन्द्रित करने की भी आवश्यकता है।

जैसे पानी और अग्नि की परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली शक्तियों के समन्वय से अद्भुत शक्तिसंपन्न विद्युत् उत्पन्न किया जाता है, इसी प्रकार संघ के अंगों का समन्वय करके अपूर्व शक्ति उत्पन्न करने से ही संघ में क्षमता आती है। इसी से संघ का तंत्र सुव्यवस्थित रूप से आगे चलता है।

राष्ट्रतन्त्र, गणतंत्र, समाजतन्त्र और धर्मतन्त्र का संचालन भी संघशक्ति के प्रबल पृष्ठ-बल के प्रताप से ही चल रहा है। इस सत्य को कौन अस्वीकार कर सकता है?

काम चाहे छोटा हो, चाहे बड़ा हो, उसकी सिद्धि के लिए संघशक्ति की परम आवश्यकता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए समस्त मानव-समाज संघस्थापना की योजना स्वीकार करता है छोटी-मोटी संस्थाएँ, युवकसंघ, विद्यार्थीसंघ, मंडल, ...

अद्‌भुत काम कर दिखलाता है तो विवेकबुद्धि धारण करने वाले मानव-समाज की संघशक्ति का पूछना ही क्या ?

मानवता के विकास के लिए संघशासन का होना आवश्यक है। भगवान महावीर ने जगत् के कल्याण के लिए संघशासन का जबर्दस्त काम हाथ मे लिया था। उस समय संघशासन शिथिल पड गया था। ब्राह्मणों और बौद्धो मे संघशासन संबंधी बहुत त्रुटि थी। कोई स्त्री और शूद्र को अपने शासन मे सम्मिलित नही करता था, किसी मे और प्रकार की अपूर्णता थी। इतना ही नही उस समय शूद्रो को धर्मकृत्य करने का भी अधिकार नही था। तत्कालीन एकांगी संघयोजना से मानवजाति का विकास कुंठित हो गया था। यह देखकर भगवान महावीर ने संघयोजना को व्यवस्थित रूप दिया। मानवता की दृष्टि से, समस्त मानवजाति को संघयोजना मे समान अधिकार मिला। यही नही, स्त्री और शूद्र जाति की उस समय अवगणना की जाती थी, पर भगवान ने उन्हे ज्ञान और चारित्र का अधिकारी मानकर संघशासन में समान अधिकार दिया। भगवान महावीर के समान सुन्दर संघयोजना का परिचय किसी भी संघसंस्थापक ने नहीं दिया। भगवान् महावीर की संघयोजना से सम्पूर्ण आर्यावर्त्त का इतिहास समुज्जवल है। भगवान् महावीर का जिनशासन, जो अब तक व्यवस्थित रूप से चल रहा है, सो उनके द्वारा प्रस्थापित की बदौलत ही। संघधर्म का ध्येय व्यक्ति के श्रेय के साथ समष्टि के श्रेय का साधन करना है। जब समष्टि के श्रेय के लिए व्यक्ति का श्रेय खतरे मे पड जाता है तब समष्टि के श्रेय का साधन करना संघधर्म का ध्येय बन जाता है। संघधर्म को व्यवस्थित रखने का उत्तरदायित्व संघ के प्रत्येक सभ्य पर रहता है।

संक्षेप में संघ का धर्म है-संघ के प्रत्येक सभ्य का श्रेय साधन करना। संघधर्म मुख्य रूप से दो विभागों में बँटा हुआ है—(१) लौकिक संघधर्म और (२) लोकोत्तर संघधर्म। लौकिक संघधर्म के सभ्य (श्रावक और श्राविका) लौकिक संघशासन का कार्य जवाबदारी के साथ चलाते हैं और लोकोत्तर संघधर्म के सभ्य (साधु और साध्वी) लोकोत्तर संघशासन का काम जवाबदेही के साथ करते हैं।

लौकिक संघधर्म क्या है और उसके सभ्यों का धर्म क्या है? इस संबंध में यहां संक्षिप्त विचार किया जायगा। लौकिक संघधर्म के संबन्ध मे शास्त्रकार का कथन है:—

'संघधम्मो—गोष्ठीसमाचारः'

अर्थात्—संघ या सभा के नियमोपनियम।

जाहिर समाचार, जाहिर सभा तथा संस्था, जिसमें सर्वसाधारण का अधिकार है और जहां सर्वसाधारण की सुख-सुविधा का विचार किया जाता है, आदि समस्त अंगों का लौकिक संघधर्म मे समावेश हो जाता है।

जो जैनधर्म ऐसी सुन्दर संघयोजना को स्वीकार करता है वह आज लोगों की दृष्टि में इतना अपूर्ण और अव्यवहार्य क्यों दिखाई देता है? कई लोग इस प्रकार का प्रश्न करते हैं। वास्तव में यह प्रश्न बहुत ही विचारणीय है। जैनधर्म को अपूर्ण या अव्यवहार्य कह कर लांछित करने मे कुछ अपराध तो उन लोगों का है जो जैनधर्म के वास्तविक मर्म को समझे बिना ही, केवल मताग्रह से प्रेरित होकर अथवा बाहर के दूषित

वातावरण के ही कारण, उसे लांछन लगाने में प्रवृत्त होते हैं। और प्रधान अपराधी वे जैन भाई स्वयं हैं जो कायरता धारण करके महावीर-धर्म को लजाते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि जैनधर्म अपने उदार, उन्नत और सार्व सिद्धांतों के कारण विश्वधर्म बनने के योग्य है।

सार्वजनिक सभाओं तथा संस्थाओं में समस्त संघ अर्थात् सम्पूर्ण मानवजाति के हित और श्रेय का विचार किया जाता है। जिस धर्म में हिन्दू, मुसलमान या ऐसे ही किसी एक ही वर्ग, समाज या जाति के हित का विचार किया जाता है उसे कुलधर्म भले ही कहा जा सके, परन्तु सम्पूर्ण राष्ट्र का संघधर्म नहीं कहा जा सकता। क्योंकि राष्ट्र का संघधर्म व्यक्तिगत या वर्गगत हित की अपेक्षा समष्टि के हित का सर्वप्रथम विचार करता है।

राष्ट्र का संघधर्म ठीक अखिल भारतीय संघ (National Congress) सरीखा है। संघधर्म के अनुसार जिस संस्था या सभा की स्थापना की जाती है उसमें समष्टि के हित के विरुद्ध, व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष के हित का विचार नहीं किया जाता। समष्टि के हित को विपत्ति में डालकर व्यक्ति या वर्ग के हित का विचार करना संघधर्म की जड़ उखाड़ना है।

जिस प्रणाली से समष्टि का श्रेय और हित सुरक्षित होता हो उसी का आश्रय लेना चाहिये। इसी में संघधर्म की महत्ता और शोभा है।

उदाहरणार्थ-मान लीजिए, अखिल भारतीय संघ (All India National Congress) ने भारत में विदेशी वस्त्रों के त्याग

का निश्चय किया। निस्संदेह इस निश्चय से विदेशी वस्त्रों का व्यापार करने वालों को आर्थिक हानि होती है। फिर भी अगर इस निश्चय से भारतवर्ष के करोड़ों गरीब भाइयों को खाने के लिए अन्न और पहनने के लिए वस्त्र मिलता हो तो वह प्रस्ताव कार्य रूप मे अवश्य परिणत होना चाहिए।

ऐसा करने से ही संघधर्म का पालन होता है। इससे विपरीत उक्त निश्चय की परवा न करते हुए, भारतीय गरीब भाइयों के जीवनरक्षण का विचार तक न करना संघधर्म का अपमान है। ऐसा करने से संघधर्म का विनाश होता है। ऐसी स्थिति मे अगर कोई व्यापारी राष्ट्रधर्म या संघधर्म के पोषक प्रस्ताव की मुखालफत करके छल-कपट से विदेशी वस्त्र का व्यापार करता है तो वह स्पष्ट रूप से राष्ट्रधर्म एवं संघधर्म का अपमान करता है। निष्कपट भाव से संघधर्म का पालन करने से संघ को अत्यधिक लाभ पहुँचने की संभावना है। बुद्धिमान पुरुष अपने निजी स्वार्थ की सिद्धि के लिए जगत् का अहित नही चाहता। जिस संघ के सदस्य इतने उदार रहते हैं वह संघ सदैव समुन्नत रहता है।

मान लीजिए, किसी गांव के निवासियों ने एकत्र होकर राजा से प्रार्थना की—'गायों को चराने के लिए स्थान नही है। अतएव गोचर-भूमि के लिए विना महसूल लिए एक स्थान की व्यवस्था कर दीजिए।' प्रजा की यह मांग राजा ने स्वीकार करली। तो इससे होने वाला लाभ प्रजासंघ के प्रत्येक सभ्य को प्राप्त होगा। मगर अगर कोई स्वार्थी मनुष्य अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए या अपनी [illegible]सिद्धि के लिए राजा को बहकाकर गोचर-भूमि देने मे

बाधा खड़ी करता है और प्रजासंघ की हितबुद्धि को पार नहीं पड़ने देता तो वह स्वार्थी मनुष्य राष्ट्रधर्म का नाशक समझना चाहिए।

प्रजासंघ के हित का विचार न करके, केवल स्वार्थवृत्ति तृप्त करने के लिए राजा का पक्ष लेना और हजारों गरीबों के जले पर नमक छिड़कना एक साधारण गृहस्थ के लिए भी अनुचित है तो बारह व्रतधारी श्रावक ऐसा कुकृत्य कैसे कर सकता है?

कुछ लोग संघधर्म के संगठन को तथा संघधर्म के लिए किये जाने -वाले कार्यों को एकान्त पाप बतलाते हैं। पर जिस संघ-धर्म के पालन से मानवसमाज नीच कर्मों का त्याग करता है और जिन पाप कर्मों के त्याग से समाज का उत्थान होता है और साथ ही श्रुत-चारित्रधर्म के पालन के लिए क्षेत्र तैयार होता है, उन संघधर्मों को एकान्त पाप कहना उचित नहीं कहा जा सकता है।

संघधर्म के पालन में आरम्भ समारम्भ होता है और उसे आरंभ समारंभ मानना भी चाहिए, परन्तु इस प्रकार का आरंभ समारंभ भी विशेष प्रकार का होता है। एक आदमी अपनी पुत्री का विवाह करता है और दूसरा अपनी माता का विवाह करता है। दोनों में विवाह का ठाट-बाट सरीखा है, फिर भी क्या दोनों विवाह एक सरीखे कहे जा सकते हैं? कदापि नहीं।

दोनों विवाहों में खर्च बराबर होने पर भी क्या दोनों विवाह बराबरी के गिने जाएंगे? अगर कोई आदमी आरंभ समारंभ की दृष्टि से दोनों विवाहों को एक समान माने तो? उसकी मान्यता गलत होगी।

यही बात आरंभ समारंभ के विषय में समझनी चाहिए। कुछ काम ऐसे होते है जिन्हे करने से वास्तविक उन्नति होती है और साथ ही अनेक महान् पापों का प्रतिकार भी होता है, और कुछ काम ऐसे है जिन्हे करने से आरंभ समारंभ के पाप के साथ ही साथ अन्य अनेक महान् पापों को उत्तेजना मिलती है।

यह सब जानते-बूझते भी जो लोग करने योग्य कार्यों को पाप रूप मानकर त्याग देते हैं वे अपनी अवनति के साथ२ पापो की भी वृद्धि करते है। करने योग्य कार्यों को एकान्त पाप कह कर लोग त्याग न दे और अवनति के मार्ग पर अग्रसर होकर पापों की वृद्धि न करे, इस महान् उद्देश्य को लेकर भी संघधर्म की स्थापना की गई है।

संघ का अर्थ है—व्यक्तियों का समूह। यह समूह व्यक्तिगत स्वार्थों को तिलांजलि देकर समष्टि के हित और श्रेय के लिए जो नियमोपनियम बनाते और उनका भलीभांति पालन करते हैं वही नियमोपनियम संघधर्म कहलाते है।

संघधर्म को जीवन मे उतारने के लिए संघ के प्रत्येक सदस्य को जवाबदेही के साथ, संघ के नियमोपनियमों का पालन करना चाहिए। जो व्यक्ति अपनी जवाबदेही भुला देता है और स्वार्थवश संघधर्म को भंग करता है वह संघधर्म का नाशक है।

'जो संघ का श्रेय-साधन करता है, संघ उसका श्रेय-साधन करता है।' यह धर्मवाक्य प्रत्येक व्यक्ति को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। संघ, समाज की प्रतिनिधि संस्था है। इस संस्था के सन्मान मे ही अपना सन्मान है। इस वस्तुस्थिति से जो

परिचित है वह व्यक्ति संघधर्म को उन्नत बना सकता है और उसकी उन्नति के द्वारा ही अपनी उन्नति कर सकता है।

लोकव्यवहार किस प्रकार चलाना चाहिए और उसे चलाने के लिए किस प्रकार का सामूहिक तन्त्र गढ़ना चाहिए, इन बातों का सुन्दर परिचय लौकिक संघधर्म कराता है। श्रावक और श्राविकाएँ अगर लौकिक संघधर्म की महत्ता को बराबर समझ लें और सामूहिक तन्त्र के नियमों के अनुसार अपना जीवनव्यवहार चलाएँ तो आज फिर लौकिक संघधर्म चमक उठेगा। लौकिक संघधर्म का बराबर पालन किया जायगा तो लोकोत्तर संघधर्म भी व्यवस्थित रूप से चलेगा, इसमें जरा भी संदेह नहीं। कारण यह है कि यद्यपि लौकिक संघधर्म और लोकोत्तर संघधर्म के नियम भिन्न२ हैं फिर भी दोनों संघधर्म धार्मिक संबंध में एक दूसरे से खूब जकड़े हुए हैं। इन दोनों को एकान्त भिन्न नहीं माना जा सकता है।

यहां तक लौकिक संघधर्म के सदस्यों के कर्त्तव्य का विचार किया गया है। अब लोकोत्तर संघधर्म क्या है और उसके सदस्यों का कर्तव्य क्या है, इस विषय पर विचार करना आवश्यक है।

जिस धर्म के पालन से साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूप चतुर्विध श्री संघ की उन्नति हो वह लोकोत्तर संघ का धर्म है। लोकोत्तर संघधर्म में भी व्यक्तिगत लाभ का विचार करते हुए समष्टिगत लाभ का दृष्टिकोण ही सामने रखना चाहिए।

कोई यह शंका कर सकता है कि श्रुत-चारित्रधर्म में ही संघ-धर्म का समावेश हो जाता है तो फिर उसका अलग वर्णन करने की

क्या आवश्यकता है ? यह कथन निराधार है क्योंकि श्रुतधर्म और चारित्रधर्म अलग अलग हैं और संघधर्म उन दोनों से भी अलग धर्म है। संघधर्म में संघ के गृहस्थ और त्यागी दोनों प्रकार के सदस्यों का कर्त्तव्य भिन्न२ बताया गया है। अगर इन दोनों का कर्त्तव्य जुदा जुदा न बताया जाय तो संघ का अस्तित्व अधिक समय तक टिक नहीं सकता। इसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण लीजिए:—

एक मनुष्य वस्त्रों का व्यवसाय करता है और दूसरा जवाहरात का। लौकिक संघधर्म के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो दोनों व्यवसायी समान हैं; फिर भी वे दोनों एक दूसरे का काम करने में असमर्थ है। जौहरी, बजाज का और बजाज जौहरी का काम सफलतापूर्वक नहीं चला सकता। ऐसा करने का परिणाम यह होगा कि दोनों ही दुकाने बहुत समय तक चालू नहीं रह सकेंगी।

इसी प्रकार गृहस्थ और साधुओं को मिलाकर एक संघ बनता है। जब समस्त संघ का प्रश्न उपस्थित होता है तो सभी की गणना समान रूप से की जाती है। किन्तु जैसे बजाज, जौहरी का और जौहरी बजाज का उत्तरदायित्व नहीं संभाल सकता वैसे ही साधु, श्रावक की और श्रावक, साधु की जबावदेही नहीं निभा सकते।

अगर साधुओं की जबावदेही श्रावकों पर डाली जाय तो वह संघ नष्ट हुए बिना न रहेगा। बालक को स्तनपान कराके ही जीवित रखा जा सकता है, मगर कोई साध्वी बालक को स्तनपान करावे तो क्या संगत होगा ? नहीं। ऐसा करने से शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार दोष होगा।

लेकिन अगर कोई माता श्राविका यह सोचकर कि साध्वी को स्तनपान कराने मे दोष लगता है अतएव मैं भी बालक को दूध न पिलाऊँगी, बालक को दूध न पिलावे तो क्या यह धर्म होगा ? लोग उसे क्या कहेंगे ? निर्दयी।

शास्त्रों मे श्रावकों के लिए पहले अहिंसाव्रत के पाँच अतिचार बतलाये गये है। उनमे एक अतिचार 'अन्नपान का निरोध'[*] करना भी है। इससे विपरीत साधु यदि किसी जानवर या मनुष्य को अन्न-पानी दे तो उसे अतिचार लगता है। इसी प्रकार श्रावक अगर अन्न-पानी न दे तो उसे दोष लगता है। ऐसी स्थिति मे अगर साधुओं के कर्त्तव्य श्रावक को लागू किये जाएँ तो श्रावकधर्म का पालन किस प्रकार हो सकेगा ?

कुछ लोगो का कथन है कि 'जो काम साधु कर सकता है वह धर्म है और जिस काम का साधु के लिए निषेध है वह सब पाप है। इस समझ के कारण श्रावक-समाज मे गलतफहमी फैल गई है। उन्होंने अपनी प्रखर बुद्धि से सम्पूर्ण शास्त्र को इसी विधान मे निचोड़ कर भर दिया जान पड़ता है। पर वे इस बात का विचार तक नहीं करते कि प्रत्येक को अपनी अपनी जवाबदेही समझाये बिना संघधर्म को कितनी अधिक हानि पहुँचने की सम्भावना है ? उन्हें विचार करना चाहिए कि जो काम सिर्फ

[*] देखो प्रतिक्रमण सूत्र—पहले व्रत के पांच अतिचारों में भत्तपाणवुच्छेए' (भक्तपानव्युच्छेद) अर्थात अन्न-पानी भोगने में रुकावट डालना पाँचवां अतिचार है।

देखो वाचक उमास्वातिजी का तत्त्वार्थाधिगमसूत्र— 'बन्धवध-च्छविच्छेदातिभारारोपणान्नपाननिरोधाः ।' अध्याय ७ वां।

साधुओं के लिए ही निश्चित किये गये हैं, उन्हे करने से श्रावक-धर्म किस प्रकार पालन किया जा सकता है ?

जब एक साधारण घर में भी प्रत्येक आदमी का कार्यक्रम अलग रहता है तो फिर इतने बड़े संघ का काम, कार्यप्रणाली को विभाजित किये बिना किस प्रकार चल सकता है ?

मान लीजिए, एक साहूकार के घर में चार पुत्रवधुएँ हैं। उनमें एक पुत्रवती है, दूसरी गर्भवती है, तीसरी बांझ है और चौथी नवविवाहिता है।

अगर सास इन चार बधुओं के खान-पान, रहन-सहन और कामकाज की व्यवस्था अलग अलग न करके चारों को एक ही प्रकार से रक्खे तो क्या परिणाम आयगा ? हानि ही होगी।

साधुओं में भी कोई जिनकल्पी होता है कोई स्थविरकल्पी। कोई रोगी होता है, कोई तपस्वी होता है। अगर सूक्ष्म दृष्टि से इनका विचार न किया जाय तो सबका निर्वाह भलीभांति कैसे हो सकता है ?

जब साधुओं में भी आन्तरिक भेद के अनुसार जुदा-जुदा कर्त्तव्य निर्धारित किया जाता है तो फिर साधु और श्रावक का निर्वाह एक ही धर्म का पालन करने से किस प्रकार हो सकता है ?

साधुओं की आवश्यकताएँ बहुत कम होती हैं, जब कि श्रावकों की आवश्यकताएँ अधिक होती हैं।

अगर साधु और श्रावक की भिन्न-भिन्न मर्यादाएँ न स्वीकार की जाएं तो श्रावक और साधु बनने की आवश्यकता ही क्या

है ? श्रावक इस लिए तो साधु बनते हैं कि गृहस्थावस्था में होने वाले आरम्भ समारम्भ से बच सकें और अपनी आवश्यकताएँ कम से कम बना लें।

अगर श्रावक और साधु का धर्म एक हो तो श्रावकधर्म और साधुधर्म में भिन्नता ही क्या रही ? श्रावक और साधु की बात जाने दीजिए, श्रावक-श्रावक का धर्म भी जुदा-जुदा ही होता है। उदाहरणार्थ-एक श्रावक घर में अकेला है, वह पाँच सात रुपये से भी अपना निर्वाह कर लेता है। दूसरा श्रावक एक राजा है। उसका कुटुम्ब परिवार भी बड़ा है। ऐसी स्थिति में पहला श्रावक अगर विचार करे कि मैं जो करता हूँ वही श्रावकधर्म है। अर्थात पाँच-सात रुपया मासिक व्यय में ही काम चलाना चाहिए। जो इससे अधिक व्यय करता है, अथवा जो मुझ से अधिक आरम्भ समारम्भ करता है, वह श्रावकधर्म का पालन नहीं करता।' तो क्या राजा बारह व्रतधारी श्रावक रह सकेगा ? नहीं।

शास्त्र में प्रत्येक श्रेणी के व्यक्ति के लिए जुदा-जुदा धर्म निश्चित किया गया है। एक व्यक्ति सोलह देशों का राजा होने पर भी बारह व्रतधारी श्रेष्ठ श्रावक बन सकता है। इस शास्त्रसम्मत और नीतियुक्त बात से विरुद्ध कथन करना स्वधर्म के लिए हानिकारक है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि साधुओं का आचारधर्म और श्रावकों का आचारधर्म भिन्न-भिन्न है। जो लोग दोनों के आचारधर्म को एक बतलाते हैं वे भूल करते हैं। उनकी भूल के कारण आजकल संघधर्म चक्कर में पड़ गया है। संघ की समुचित व्यवस्था न होने से साधु अपनी जवाबदेही श्रावकों पर और श्रावक अपनी जवाबदेही साधुओं पर डाल रहे हैं। जैसे पाठशाला

का संचालन करना, संस्था खोलना, किसी कार्यालय की सक्रिय व्यवस्था करना, गोरक्षा तथा अनाथरक्षा की सक्रिय व्यवस्था करना, इत्यादि कार्य दया और परोपकार के अवश्य हैं, परन्तु साधु जब ऐसे व्यावहारिक प्रपंच मे पड़ते हैं तो उनकी अध्यात्मसाधना मे विघ्न पड़ता है।

साधु परोपकार न करे तो परोपकार कौन करेगा ? इस सम्बन्ध मे यही कहना पर्याप्त है कि ऐसे परोपकार के कार्य, जिनमे आरम्भ आदि क्रियाएँ करनी पड़ती हैं, अगर साधु करेंगे तो श्रावक क्या करेंगे ? प्रत्येक को अपनी मर्यादा मे रहकर ही कार्य करना चाहिए। यही शास्त्रीय विधान है।

अगर श्रावकों का कर्त्तव्य साधु अपने सिर ओढ़ लेगे तो साधुओं के महाव्रतों का पालन क्या श्रावक करेंगे ? अगर श्रावकों का काम साधु अपने हाथों मे ले ले तो श्रावक तो महाव्रत पालने मे असमर्थ हैं ही, साधु भी महाव्रत न पाल सकेंगे। नतीजा यह होगा कि महाव्रतों का लोप होने लगेगा।

साधुओं को पैसे के प्रपंच में पड़ना उचित नही है। 'अमुक संस्था को एक हजार रुपये देदो' अथवा परोक्ष रूप मे 'पैसे की ममता त्यागो' 'इस संस्था के लिए पुद्गलों का त्याग करो' इत्यादि प्रकार से कहना योग्य नही है। कदाचित् रुपये की अव्यवस्था के कारण अपव्यय हो तो साधु पर विश्वासघात का दोष आता है। अतएव आत्मसाधक साधु पैसे के प्रपंच में नहीं पड़ सकता।

वर्त्तमान काल मे अनेक संस्थाओं में अव्यवस्था देखी जाती

है। स्वार्थत्यागी योग्य आदमियों की कद्र नहीं रही और जो चाहता है वही संस्था की स्थापना करने को तैयार हो जाता है। इस प्रकार नई नई संस्थाएँ स्थापित करने वालों की परीक्षा किये बिना जो श्रावक इन्हें नियम विरुद्ध सहयोग देते हैं वे साधुत्व के हास में सहयोग देते हैं।

जो काम श्रावकों को करने योग्य है उन्हें श्रावक करें और जो साधुओं को करने योग्य है उन्हें साधु करें, इसी में संघ की सुव्यवस्था रहती है। जिन कार्यों में थोड़ा आरम्भ और अधिक उपकार होता है, ऐसे कार्य श्रावक सदा से करते आये हैं। केशी स्वामी ने चित्तप्रधान से कहा था–'परदेशी राजा मेरे सामने ही नहीं आता तो मैं उसे उपदेश कैसे दूँ ? इस कथन से यह प्रतीत होता है कि राजा परदेशी को केशी महाराज के पास लाना श्रावकों का कर्त्तव्य था, साधुओं का नहीं। यह कर्त्तव्य साधुओं का होता तो केशी महाराज किसी साधु को भेज कर उसे बुला लेते। परन्तु परदेशी राजा को चित्त प्रधान लाया था। तात्पर्य यह है कि साधु, साधुओं के योग्य और श्रावक श्रावकों के योग्य कर्त्तव्य करते आये हैं। मेरा आशय यह नहीं है कि संस्थाएँ स्थापित न की जाएँ। मेरा उद्देश्य इतना ही है कि साधु व्यावहारिक प्रपंचों में न पड़ें और अपने साधु-धर्म का ही तत्परता के साथ पालन करें।

श्रावकों को उपदेश देना साधुओं का कर्त्तव्य है। केशी श्रमण ने राजा परदेशी को श्रावक बनाने के बाद उपदेश दिया था कि– हे राजा ! तुम रमणीक से अरमणीक न होना। यह उपदेश सुनकर राजा ने अपने राज्य के चार भाग करके, एक भाग दान देना आरम्भ किया। केशी श्रमण ने राजा को यह नहीं कहा था कि 'तुम इस प्रकार करो।' उपदेश देने से श्रावक स्वयं अपना कर्त्तव्य समझ लेते हैं।

साधुओं को प्रेरणा या आग्रह करने की क्या आवश्यकता है ? जिनकी श्रद्धा होगी, जिनमे शक्ति होगी, वे स्वयं सब बातें समझेंगे और दूसरे का उपकार करने मे प्रवृत्त होंगे। साधु किसी को सकोच या लाज-शर्म मे डाले यह उचित नहीं है।

कोई साधु कदाचित् यह कहे कि श्रावक व्यवस्था करने तथा संस्था चलाने मे असमर्थ हैं, ऐसी हालत में अगर हम संस्था का संचालन न करें तो काम कैसे चल सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे मै कहता हूं कि अगर उन्हे इसी मे संघ का कल्याण दिखाई देता है तो वे साधुपन छोड़कर श्रावक बन कर वह काम कर सकते हैं।

साधुओं को अध्ययन करने की आवश्यकता है। अगर साधु उच्च श्रेणी की शिक्षा न ले तो ज्ञान दर्शन और चारित्र का पूर्ण रूप से महत्व न समझ सकेगे और शुद्ध उच्चारण करना भी उनके लिए कठिन हो जायगा। इससे धर्म की हानि होने की संभावना है। आजकल, वर्त्तमान परिस्थिति मे जो परिवर्त्तन हो रहे हैं उनमे भी हमे अपने संघ को टिकाये रखना है। अतएव साधुओं को समस्त शास्त्रों मे निपुण बनाकर जैनधर्म की प्रखर ज्योति फैलाना आवश्यक है। 'पढमं नाणं तओ दया' भगवान् महावीर का यह संदेश सर्वत्र फैलाना अत्यावश्यक है।

अगर कोई साधु शास्त्र मे पारंगत होने के बाद सम्प्रदाय के बंधनों को विकास मे बाधक समझ कर सम्प्रदाय से जुदा हो जाय और अपनी स्वेच्छा से कार्य करने लगे और आचार्य भी उसे अविनीत जान कर छोड़ दें, फिर भी अगर श्रावक उसकी ... करते रहेंगे और सम्प्रदाय की मर्यादा को स्वीकार न

करने पर भी उसे पूजते रहेंगे तो क्या वह साधु अपने आचार्य की परवाह करेगा? जिस साधु को आज्ञा से बाहर कर दिया गया है, उसे तुम लोग पूजते रहो तो यह आचार्यपद का मूलोच्छेद करने के समान है या नहीं?

अगर तुम्हें ऐसा ही कार्य करना है तो तुम्हारी मर्जी। इतना याद रखना कि आज्ञा से बाहर (बहिष्कृत) किये हुए साधु की सहायता करना संघधर्म पर कुठाराघात करने के समान है।

अगर तुम बहिष्कृत शिष्य की सहायता करते रहोगे तो एक दिन सब स्वतन्त्र होकर कहने लगेंगे—'साम्प्रदायिक बंधनों की आवश्यकता नहीं है।' इस स्थिति में कौन शिष्य आचार्य की आज्ञा में रहना पसन्द करेगा?

साम्प्रदायिक बंधनों की आवश्यकता स्वीकार न करना संघधर्म सम्बन्धी अज्ञान को प्रकट करता है। अगर श्रावक भलीभांति विचार करके इस विषय में योग्य व्यवस्था न करेंगे तो साधु स्वच्छन्दाचारी बन जाएँगे। इस प्रकार की अव्यवस्था और विशृंखलता फैल जाने से धर्म का और आचार्यपद का महत्त्व नहीं रहेगा। ऐसी हालत में संघ का काम कैसे चल सकेगा? इस बात पर तुम्हें सावधानी के साथ विचार करना चाहिए।

राष्ट्रीय महासभा में स्वीकृत निर्णय सम्पूर्ण भारतवर्ष का निर्णय है। अगर कोई मनुष्य इस निर्णय का अपमान करता है तो वह जनता का अपमान है।

महासभा के प्रस्तावों का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इस बंधन की आवश्यकता स्वीकार न करके अगर हरएक आदमी अपनी मनमानी करने लगे तो राष्ट्रधर्म और संघधर्म का अस्तित्व अधिक समय तक नहीं बना रह सकता। ठीक यही बात लोकोत्तर संघधर्म के विषय में भी समझनी चाहिए। जो व्यक्ति संघधर्म के विरुद्ध अपनी व्यक्तिगत स्वच्छन्दता खोजता फिरता है वह संघधर्म का अपमान करता है।

श्रुत-चारित्र-धर्म, प्रत्येक व्यक्ति का जुदा-जुदा धर्म है, परन्तु संघधर्म सब का सामूहिक धर्म है। अतएव संघधर्म के ऊपर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। संघधर्म के अभाव में चारित्रधर्म अधिक समय तक नहीं टिक सकता। हरएक आदमी अपनी-अपनी सम्पत्ति की रक्षा तो करता ही है, पर साथ ही उसे गांव की रक्षा करने की ओर भी ध्यान देना पड़ता है, क्योंकि गांव लुटने पर उसकी अपनी सम्पत्ति भी सुरक्षित नहीं रह सकती। यही बात श्रुत-चारित्रधर्म और संघधर्म के संबंध में है। श्रुत-चारित्रधर्म एक व्यक्ति की संपत्ति के समान है और संघधर्म समूचे गांव की संपत्ति के समान है।

अगर समूचे गांव की सम्पत्ति लुट जाय तो एक मनुष्य अपनी सम्पत्ति किस प्रकार सुरक्षित रख सकता है? इसी प्रकार जो मनुष्य अपने व्यक्तिगत धर्म की सुरक्षा चाहते हैं संघधर्म की रक्षा की तरफ भी पर्याप्त ध्यान देना चाहिए।

संघधर्म का महत्व इतना अधिक बतलाया गया है कि अगर कोई साधु विशिष्ट अभिग्रह आदि चारित्रधर्म की साधना में तल्लीन हो रहा हो और उस समय संघ को अनिवार्य आवश्यकता पड़ जाय तो साधु को अपनी साधना त्याग करके भी संघ का कार्य पहले करना चाहिए। यह शास्त्र का आदेश है। यह बात भद्रबाहु स्वामी की कथा से अधिक स्पष्ट हो जायगी।

एक बार भद्रबाहु स्वामी एकान्त में योग की साधना कर रहे थे। उस समय संघ में विग्रह होगया। जब तक कोई तेजस्वी और प्रतिभाशाली पुरुष उसका निपटारा न करदे तब तक विग्रह शांत होना असंभव-सा प्रतीत होता था। आखिर संघ एकत्र हुआ। संघ ने निश्चय किया कि भद्रबाहु स्वामी के सिवाय दूसरा कोई इस विग्रह को शान्त नहीं कर सकता। उन्हें बुलाने के लिए कोई साधु जावे और यहां आकर भद्रबाहु स्वामी निपटारा करें।

साधु भद्रबाहु स्वामी के पास पहुंचे। उन्होंने संघ का आदेश कह सुनाया। सब बात सुनकर स्वामी ने उत्तर दिया—'मैं इस समय योग की साधना में तल्लीन हूँ। योग-साधना के पश्चात् वहां आऊंगा।'

विचार करने के बाद संघ ने उन्हें बुलाने के लिए फिर साधु भेजे। साधुओं ने संघ के कथनानुसार निवेदन किया—

'महाराज! योग-साधना करके आपको अकेले अपना कल्याण करना श्रेष्ठ है या समस्त संघ में फैले हुए विग्रह को शांत करना श्रेष्ठ है? दोनो मे अधिक श्रेष्ठ क्या है?

संघ का यह प्रश्न सुनकर भद्रबाहु स्वामी अपना अभिग्रह अधूरा छोड़कर संघ के पास आये और श्रीसंघ से क्षमायाचना करके कहने लगे—'मेरी योग-साधना की अपेक्षा संघ का कार्य अधिक महत्वपूर्ण है।' यह कहकर उन्होंने सब को सान्त्वना दी। कई लोग कहा करते है—हमें इससे क्या! हमे दूसरों की चिन्ता करने से क्या मतलब? हम चैन से रहे तो बस है। दूसरो का जो होनहार है सो होगा ही। उससे हमे क्या लेन-देन?' ऐसे विचार वाले लोग भयंकर भूल करते हैं। जिस ग्राम मे या जिस देश मे ऐसे विचार वाले लोग रहते हैं उस ग्राम या देश का अधःपतन हुए बिना नहीं रह सकता। जब से भारतवासियों के दिल में इस प्रकार के विचार उत्पन्न हुए तभी से भारतवर्ष का अधःपतन आरम्भ हुआ। अब भारत मे यह दुष्ट भावना बदलती दिखाई पड़ रही है और समग्र राष्ट्र संगठित होकर राष्ट्रोद्धार करने में तत्पर हो गया है। अब यह आशा की जाती है कि भारतवर्ष की दशा कभी न कभी अवश्य सुधरेगी।

पर 'हमे इससे क्या' वाली दुष्ट भावना जैनसंघ में से अभी

तक दूर नहीं हुई। और इस भावना को नेस्तनाबूद करने के लिए कोई प्रयत्न भी नहीं किया जा रहा है, यह अधिक दुःख की बात है। संघधर्म का महत्व न समझने के कारण ही जैनसंघ में यह दूषित भावना घुस गई है।

भगवान् का कथन है कि सहधर्मियों को किसी भी प्रकार की शान्ति पहुंचने से निर्जरा होती है। इस समय संघधर्म की रक्षा करने की परमावश्यकता है।

भद्रबाहु स्वामी संघ के हित को लक्ष्य में रख कर संघ के पास आये थे। और संघ का हित साधन किया था। धर्म की रक्षा करना अपनी रक्षा करने के बराबर है। मनुजी ने ठीक ही कहा है—

धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो, मा नो धर्मो हतोऽवधीत ॥

अर्थात—जो मनुष्य धर्म का नाश करता है धर्म उसका नाश करता है। और जो धर्म की रक्षा करता है धर्म उसकी रक्षा करता है। धर्म हमारा नाश न करे, इसलिए हमें धर्म का नाश नहीं करना चाहिये।

अधिक लाभ है, इस बात को इस समय समझ लेने की बड़ी आवश्यकता है।

आजकल संघ अस्तव्यस्त हो चुका है। जब तक उसे संगठित नहीं किया जाता तब तक किसी कार्य में पूर्ण सफलता मिलना कठिन है।

सिर्फ पांच ही मनुष्यों को इकट्ठा किया जाय तो उनसे भी पाँच हजार आदमी इकट्ठे हो सकते है और संसार में आदर्श शक्ति पैदा कर सकते हैं दक्षिण आफ्रिका मे अंग्रेज भारतीयों को फुट पाथ पर नही चलने देते थे और फर्स्ट क्लास या सैकंड की टिकिट होने पर भी वहां से उतार कर थर्ड क्लास के डिब्बे में बैठा देते थे। भारतीयों के साथ किया जाने वाला यह व्यवहार तो साधारण-सा समझा जाता था। कोई भारतीय घोड़ा गाड़ी की टिकिट लेकर उस गाड़ी मे बैठ नहीं सकता था। एक बार गांधीजी भी ऐसी चपेट में आ गये थे और उन्हे खूब मार भी खानी पड़ी थी। पर अकेले गांधीजी ने ही वहां के भारतीयों की अस्त व्यस्त शक्ति का संगठन किया और उस शक्ति से सत्याग्रह करके भारतीयों के मान की रक्षा की। भारतीयों से वसूल किया जाने वाला तीन पौंड का कर भी उन्होंने मंसूख कराया।

अगर आप लोग संघबल का संगठन करो तो कोई भी कार्य अशक्य नहीं है। संघबल और सँघधर्म का महत्व समझ कर, तदनुसार शक्ति संगठित की जाय तो संघधर्म का और जैनधर्म का अवश्य ही उद्धार होगा, इसमें लेशमात्र भी सदेह नहीं किया जा सकता।

८

सूत्र धर्म

[सुत्त धम्मे]

जहा सुई ससुत्ता पडिया वि न विणस्सइ ।
तहा जीवो ससुत्तो संसारे वि न विणस्सइ ॥

चाहे जैसे चिकने कीचड़ में पड़ी हुई सुई छोटे से सूत्र-डोरे से युक्त हो तो गुमती नहीं है। इसी प्रकार सूत्र सहित (सम्यग्ज्ञानी) जीव संसार में रहता हुआ भी आत्म-भान से वंचित नहीं होता।

'जानो, समझो, विचार करो,' धर्म-शास्त्र की इस घोषणा द्वारा मुमुक्षु जीवों को शास्त्रकार ने सूत्रज्ञान की प्रधानता सूचित की है।

शास्त्रकारों ने सिर्फ चतुराई, सिर्फ पण्डिताई, कोरी वाक्-कुशलता, कोरी व्यवहारपटुता, कोरा मनोरंजन या कोरा वक्तृत्व ज्ञान नहीं माना। जिस सम्यग्ज्ञान के आविर्भाव से चित्तवृत्ति

शुद्ध होती है, क्रोध आदि कषाय मंद होते हैं और संयम तथा समभाव का पोषण होता है, उसी का सम्यग्ज्ञान माना है।

'पढमं नाणं तओ दया'—पहले ज्ञान फिर दया—चारित्र और 'ज्ञानक्रियाभ्याम् मोक्षः' अर्थात् ज्ञान और चारित्र द्वारा ही मुक्ति-लाभ होता है। यह धर्मशास्त्रों की घोषणाएँ भी इसी प्रकार के सम्यग्ज्ञान को सूचित करती हैं।

ज्ञान और क्रिया का साहचर्य श्रेयसिद्धि का मुख्य कारण है। जैसा समझो वैसा ही करो, तभी ध्येय सिद्ध हो सकता है। जानना जुदा और करना जुदा, इस प्रकार जहाँ विसंवाद होता है वहाँ बड़े से बड़ा प्रयास करने पर भी विफलता ही मिलती है। 'ज्ञानं वन्ध्यं क्रियां विना' अर्थात् क्रिया के बिना ज्ञान निष्फल है, और ज्ञानहीन क्रिया अन्धी है। यह धर्मोक्ति भी ऐसे ही विसंवादी ज्ञान और क्रिया के लिए कही गई है। अतएव ज्ञान और क्रिया का जहाँ संवाद होता है वहाँ ध्येयसिद्धि समीप ही रहती है।

सम्यग्ज्ञान शाश्वत सूर्य है, कभी न बुझने वाला दीपक है। इससे चमकते हुए प्रकाश से मात्सर्य, ईर्षा, कटुता, लुब्धता आदि अनेक रूपों में फैला हुआ अज्ञान-अन्धकार पल भर भी नहीं टिक सकता है।

[illegible]- अनुपम [illegible] और सम्यग्ज्ञान परम है। [illegible]

वैभाविक उन्माद दूर करता है और आत्मा को जागृत करता है। इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है कि—चाहे जैसे चिकने कीचड़ में पड़ी हुई सुई छोटे से सूत्र-डोरे से युक्त हो तो गुमती नहीं है, इसी प्रकार सूत्रसहित (सम्यग्ज्ञानी) जीव संसार में रहता हुआ भी आत्मभाव से वंचित नहीं होता।

धर्मशास्त्र में सम्यग्ज्ञान का प्रभाव खूब वर्णन किया गया है। जैन परिभाषा में जिसे मिथ्याश्रुत कहा गया है उसका पठन वाचन-मनन भी सम्यग्ज्ञानी को अहितकर नहीं होता। सम्यग्ज्ञान के कारण उसकी दृष्टि विशाल, आग्रहरहित, प्रशान्त और नयवाद को समझने वाली बन जाती है। इसीलिए किसी भी धर्मशास्त्र का संसर्ग उसके लिए अहितकर नहीं होता। सम्यग्ज्ञान के कवच की बदौलत वह सदा सुरक्षित रहता है। और जैसे गाय घास को दूध रूप में परिणत कर लेती है, उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानी अन्य धर्मशास्त्र को भी हितकर रूप में परिणत कर सकता है और ऐसा करके वह धार्मिक कलह को शांत भी कर सकता है।

चौदह राजू-लोक के जीव मात्र को अभयदान देने की चावी एक मात्र सम्यग्ज्ञान है। एक पुरुष को सम्यग्ज्ञानाभिमुख करना और चौदह राजूलोक के प्राणीमात्र को अभयदान देना बराबर है। सम्यग्ज्ञान की ऐसी अद्भुत महिमा है।

आत्मशोधन से सबंध रखने वाले किसी भी संप्र साहित्य में सम्यग्ज्ञान का सर्वत्र सर्वोपरि स्थान है। मु निषद् में आत्मप्राप्ति का साधन सम्यग्ज्ञान बतलाया

कहा है—

'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।'

'सम्मत्तदंसी न करेइ पाव' अर्थात् सम्यग्ज्ञानी जीव पापकर्म नहीं करता। यह धर्मवाक्य भी सम्यग्ज्ञान की महिमा प्रकट करता है।

मोक्ष-धर्म रूप रथ के सूत्र और चारित्र दो चक्र हैं। इस प्रकार सूत्र और चारित्र अथवा ज्ञान और क्रिया परस्पर सापेक्ष हैं। इनमें से किसी एक की उपेक्षा करने से धर्म-रथ आगे नहीं चल सकता।

जैसे अनुष्ठानहीन कोरे ज्ञान से आत्मशुद्धि नहीं हो सकती उसी प्रकार सम्यग्ज्ञानहीन चारित्र भी मोक्षसाधक नहीं हो सकता। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, दोनों को जीवन में सरीखा स्थान देने से ही आत्मा शुद्ध और मुक्त बन सकता है।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' कहकर श्रीवाचक-मुख्य ने भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र रूप रत्नत्रय को मोक्ष का मार्ग बतलाया है।

श्रुतधर्म और चारित्रधर्म का आपस में इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है। तो फिर शास्त्रकारों ने दोनों का अलग-अलग वर्णन क्यों किया है? यह प्रश्न किसी को हो सकता है। इसका उत्तर यह है कि यद्यपि दोनों धर्मों का परस्पर घना सम्बन्ध है फिर भी

दोनों धर्मो का आचार भिन्न है और इसी कारण दोनों धर्मो में भेद भी है।

सूत्रधर्म आधार है और चारित्रधर्म आधेय है। सूत्रधर्म अकेला टिक नहीं सकता। चारित्रधर्म से पहले मनुष्य में सम्यक्त्व आदि रूप सूत्रधर्म आ सकता है पर सूत्रधर्म के बिना चारित्रधर्म नहीं आ सकता।

बहुत से लोग चारित्रधर्म को ही धर्म मानते है। सूत्रधर्म उनके लिए किसी गिनती में ही नहीं है। सूत्र के अक्षर पढ़ लेना, बस इसी को वे पर्याप्त समझ लेते हैं। वास्तव में उनकी यह भयंकर भूल है। जब तक सूत्रधर्म का वाचन-मनन और निदिध्यासन नहीं होता तब तक सूत्रधर्म का मर्म समझा नहीं जा सकता। शास्त्रकारों ने सूत्रधर्म का महत्व यहाँ तक बताया है कि अगर सूत्रधर्म का विधिवत् वाचन, मनन और निदिध्यासन किया जाय तो मनुष्य संसार 'परीत' कर सकता है अर्थात् मोक्ष साधना के योग्य बन जाता है।

चारित्रधर्म-आचारधर्म का अनुष्ठान करने से पहले सूत्रधर्म अर्थात् विचार-धर्म का पूरा ज्ञान होना चाहिये। जब तक यथार्थ वस्तुस्वरूप न जान लिया जाय तब तक आचरण अर्थहीन होता है। अनजाने को जानना, जाने हुए की खोज करना और खोजे हुए को जीवन में उतारना, यह जीवनशुद्धि का मार्ग है। जो मनुष्य सूत्रज्ञान का आराधन किये बिना ही चारित्रधर्म

(४) मार्दव-अहंवृत्ति का त्याग कर मृदुता धारण करना।

(५) लाघव-आन्तरिक और बाह्य क्रोध, मान, माया, लोभ का आत्यन्तिक त्याग करके लघुता धारण करना-झूठे बड़प्पन से दूर रहना।

(६) सत्य-सत्यवादी बनना-असत्य, अप्रिय, संदिग्ध, अस्पष्ट और गोलमोल वचन न बोलना।

(७) संयम-संयम धारण करना-इंद्रियदमन करना।

(८) तप-अनशन आदि बाह्य तपस्या तथा प्रायश्चित्त आदि आन्तरिक तपस्या करना।

(९) त्याग-त्याग परायण बनना-इन्द्रिय के विषयभोगों के प्रति विरक्ति धारण करना।

(१०) ब्रह्मचर्य-ब्रह्मचर्यमय जीवन यापन करना।

दस प्रकार के इस श्रमणधर्म में पांच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, सत्तरह प्रकार का संयम, बाईस परीषह, सत्ताईस साधुगुण आदि-आदि साधु के विशेष धर्मों का संक्षेप में समावेश किया गया है। इन दस धर्मों को क्या *हिन्दु और क्या

*धृतिक्षमादमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दसकं धर्मलक्षणम् ॥

बौद्ध–प्रायः सभी धर्मावलम्बियों ने न्यूनाधिक रूप मे स्वीकार किया है। पर जैन मुनियों को इन धर्मों का दृढता पूर्वक पालन करना पड़ता है, जब कि अन्यत्र इतनी सख्ती नही देखी जाती।

गृहस्थधर्म

गृहस्थ धर्म को दो विभागों में विभक्त किया गया है। एक एक सामान्य धर्म, दूसरा विशेष धर्म।

गृहस्थ का सामान्यधर्म

गृहस्थ का सामान्यधर्म जैन ग्रन्थों के ही शब्दोंमें उद्धृत करना उचित होगा। वह इस प्रकार है—

१ सामान्यतो गृहस्थधर्मो न्यायतोऽनुष्ठानमिति

न्यायपूर्वक प्रवृत्ति करना गृहस्थ का सामान्यधर्म है।

२ न्यायोपात्तं हि वित्तमुभयलोकहितायेति।

न्याय से उपार्जित धन इस लोक मे भी हितकर होता है और परलोक मे भी।

३ तथा समानकुलशीलादिभिर्गोत्रजैरेव वाह्यम्।

गृहस्थ को समान कुल, समान शील तथा भिन्न और अच्छे गोत्र में उत्पन्न होने वालों के साथ ही विवाह सबन्ध करना चाहिए।

४ शुद्धकलत्रलाभफलो विवाहस्तत्फलं च सुजातसुतसन्ततिः अनुपहतचित्तनिवृत्तिः गृहकार्यसुविहितत्वं, अभिजात्याचार विशुद्धत्वं, देवातिथिबान्धवसत्कारानवद्यत्वं चेति।

विवाह का फल कुलीन-पवित्र स्त्री की प्राप्ति होना है। कुलीन स्त्री की प्राप्ति का फल है-चित्त की स्वस्थता, सुचारु रूप से गृह-कार्य सम्पन्न होना, आचार की शुद्धता और देव, अतिथि, बन्धु-जन आदि का यथोचित सत्कार करना।

(५) तथा उपप्लुतस्थानत्याग इति।

उपद्रव-जनक स्थान में न रहना।

(६) तथा आयोचितो व्ययः।

गृहस्थ को आमद के अनुसार खर्च करना चाहिए।

(७) तथा प्रसिद्धदेशाचार पालनमिति।

गृहस्थ को अपने देश के आचार का पालन करना चाहिये।

(८) तथा मातृ-पितृपूजेति।

गृहस्थ को माता-पिता, धर्मगुरु आदि का आदर-सत्कार करना चाहिए।

(९) तथा सात्म्यतः कालभोजनमिति।

गृहस्थ को शरीर की रक्षा-नीरोगता के लिए यथा-समय भोजन करना चाहिए।

(१०) वेगव्यायामस्वापस्नानभोजनस्वच्छन्दवृत्तिकालान्नो-पलन्ध्यात्।

गृहस्थ को शौच, व्यायाम, निद्रा, स्नान, भोजन

आदि नित्य कृत्यों का शरीर रक्षा के निमित्त कभी उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

(११) शरीरायासजननी, क्रिया व्यायामः ।

शरीर को परिश्रम उत्पन्न करने वाली क्रिया 'व्यायाम' कहलाती है।

(१२) शस्त्रवाहनाभ्यासेन व्यायामं सफलेत् ।

शस्त्र-वाहन-दंड-बैठक आदि के अभ्यास से व्यायाम सफल होता है।

(१३) आदेहस्वेदं व्यायामं कालमुशन्त्याचार्याः ।

आचार्यों का कथन है कि शरीर में पसीना आने तक व्यायाम करना उचित है।

(१४) अव्यायामशीलेषु कुतोऽग्निप्रदीपनमुत्साहो देहदार्ढ्यं च ।

जो लोग व्यायाम नहीं करते उनकी अग्नि प्रदीप्त कैसे हो सकती है? उनमें उत्साह कहां से आयगा? उनकी देह सुदृढ कैसे होगी?

(१५) श्रमस्वेदालस्यविगमः स्नानस्य फलम् ।

थकावट, पसीना और आलस्य का नाश होना स्नान का फल है।

(१६) स्वच्छन्दवृत्तिः पुरुषाणां परमं रसायनम् ।

गृहस्थों के लिए स्वच्छन्दवृत्ति-स्वाधीनता परम रसायन है ।

यहां स्वच्छन्दवृत्ति को उच्छृङ्खलता के भाव में ग्रहण करना उचित नहीं है । स्वच्छन्दवृत्ति का अर्थ—स्व-आत्मा के छन्द-विषय में, वृत्ति-विचारना है ।

गृहस्थ को आत्मा के हित के निमित्त देव, गुरु और धर्म का सेवन अवश्य करना चाहिए । क्योंकि उनके लिए यही अद्वितीय शांति स्थान है । इन्हींके सेवनसे सच्ची शांतिका लाभ होताहै और यही सांसारिक दुःख का निवारण करने के लिए परम औषध है ।

गृहस्थ जब उल्लिखित मार्गानुसारी रूप सामान्य धर्मों का यथोचित पालन करता है, तभी वह गृहस्थ के विशेष धर्म का पालन करने में समर्थ होता है । लगभग इन्हीं नीति रूप गुणों का उल्लेख अन्यत्र इस प्रकार किया गया है —

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरून् सद्गीस्त्रिवर्गं भजन्,
अन्योन्यानुगुणं, तदर्हगृहिणीस्थानालयो ह्रीमयः ।
युक्ताहारविहारआर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
शृण्वन् धर्मविधिं दयालुरघभीः सागारधर्मं चरेत् ॥

अर्थात्—श्रावक न्यायपूर्वक धनोपार्जन करे, गुणों में बड़े जनों का सत्कार-सन्मान करे, मधुर व प्रशस्त वाणी का प्रयोग

करे, एक दूसरे से विरोध न करते हुए धर्म, अर्थ, काम का सेवन करे, अपने योग्य गृहिणी और स्थान वाला हो, लज्जाशील हो, उचित आहार-विहार करे, आर्य पुरुषों की संगति करे, हिताहित का विवेकी हो, कृतज्ञ हो, इन्द्रियों को और मन को वश में रक्खे, दयावान् हो, पापभीरु हो और धर्मोपदेश का श्रवण करता हुआ श्रावक धर्म का पालन करे।

गृहस्थ का विशेष धर्म

जीवन को संस्कारमय बनाने के लिए सर्व प्रथम नैतिक गुणों की आवश्यकता है। नीति की नींव पर ही धर्म का महल खड़ा किया जा सकता है। अतएव नीति-गुणों को जीवन में स्थान देना गृहस्थ का सामान्य धर्म है। और नीति-गुणों के साथ ही साथ बारह प्रकार के धार्मिक गुणों का ध्यान देना गृहस्थ का विशेष धर्म है।

धर्म प्रधानतः श्रद्धा की वस्तु है। श्रद्धा के बिना धर्म का पालन नहीं होता। अतः गृहस्थ को शंका-कांक्षा आदि धर्मबुद्धि का नाश करने वाले दोषों को दूर करके, विश्वासपूर्वक धर्मपालन में दृढ़ बनना चाहिए।

धर्मश्रद्धा को दृढ़ बनाने के बाद गृहस्थधर्म को जिन बारह व्रतों का पालन करना चाहिए, उनका संक्षिप्त स्वरूप यह है—

(१) अहिंसाव्रत—

थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं—स्थूल प्राणातिपात से विरत होना। गृहस्थ को इस प्रकार यतना-सावधानी से प्रत्येक कार्य करना चाहिए जिससे किसी मनुष्य, पशु, पक्षी या अन्य त्रस जीव को कष्ट न पहुंचे। अपने चित्त में किसी त्रस जीव को कष्ट पहुंचाने या उसका प्राण हरण करने का संकल्प उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए। वध, बंध आदि हिंसाजनक प्रवृत्तियों से बचते हुए प्रत्येक कार्य करना चाहिए। यह गृहस्थ का अहिंसा-व्रत है।

(२) सत्यव्रत—

थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं—स्थूल असत्यभाषण से विरत होना अर्थात्-गृहस्थ जिस बात को जिस रूप में जानता या मानता हो उसी रूप में वह दूसरे से कहे। लाभ की आशा से या भय आदि की भावना से उस बात में तनिक भी फेरफार न करे। लोकभय नैतिक निर्बलता, लोकैषणा आदि दुर्गुणों को दूर रखकर हँसी दिल्लगी, पराई निन्दा, कोरी गप्पों आदि प्रयोजन हीन बातोंमें अपनी वाणीका दुरुपयोग न करे। इस प्रकार वचन संबन्धी असत्प्रवृत्ति से निवृत्त होकर सत्प्रवृत्ति करना गृहस्थ का सत्य व्रत है।

(३) अचौर्यव्रत—

थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं—स्थूल अदत्तादान से विरत होना। अर्थात् जिस वस्तु पर, जिस मनुष्य पर, जिस

अधिकार पर अथवा जिस वस्तु-नीति पर वास्तविक अधिकार न हो उस वस्तु आदि को नीति का भंग करके न लेना। किसी की किसी वस्तु पर अपना अनुचित अधिकार न जमाना और चोरी न करना गृहस्थ का अचौर्य व्रत है।

(४) ब्रह्मचर्यमर्यादा व्रत-स्वपत्नीसन्तोषव्रत

थूलाओ मेहुणाओ वेरमणं—स्थूल मैथुन से विरत होना। अर्थात् गृहस्थ को अपने वीर्य का अपनी और दूसरों की अनेक प्रकार की उन्नति में उपयोग करना चाहिए। पाशविक वृत्तियों के पोषण में वीर्य का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। वीर्य वह शक्ति है जिसके प्रताप से उच्च श्रेणी के अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है, यह बात ध्यान में रखते हुए अखंड ब्रह्मचारी बनने का निरन्तर प्रयास करना चाहिए। अगर इतना संभव न हो तो अपने विचारों के अनुरूप सहधर्मिणी खोजकर, उसी में संतुष्ट रहना चाहिए। अगर ऐसा कोई पात्र न मिले जो परस्पर अनुकूल रहकर एक दूसरे के विकास में सहायक हो तो अविवाहित रहने का ही प्रयत्न करना चाहिए। विवाहित जीवन, जो चारों ओर [illegible] गई मनोवृत्तियों को नियंत्रित-केन्द्रित करने के लिए [illegible] अगर दोनों में से किसी एक में असंतोष [illegible] तो दुहरा हानिकारक हो जाता है। अतएव [illegible] बनाने से पहले अपनी शक्ति, अपने [illegible] अपनी स्थिति और पात्र की योग्यता, इन [illegible]

कर लेना उचित है। विवाह करना मनुष्य का मुख्य नियम है और अविवाहित रहना अपवाद है, इस धारणा को बदलने की आवश्यकता है। अविवाहित रहते हुए स्व पर का अभ्युदय-साधन करना और यदि सब प्रधान बातों की अनुकूलता हो तभी विवाह करना चाहिए, यह नियम मानव-समाज के लिए अधिक से अधिक हितकर है। विवाहित जीवन को विषय वासना की मर्यादाहीन स्वतंत्रता के रूप में भूलकर भी न समझना चाहिए। विवाह का उद्देश्य विषय भोग में डूबना नहीं है, वरन् विषय वासना से विरत होना है।

गृहस्थ को विषयवासना का संकोच और आत्मिक ऐक्य करना सीखना चाहिए और अश्लील शब्दों से, अश्लील दृश्यों से, और अश्लील कल्पनाओं से दूर रहना चाहिए।

जो विवाह के उद्देश्य को नहीं समझते और न एक दूसरे के प्रति अपने सहचरता के पवित्र कर्त्तव्य को ही पहचानते है, उन अज्ञान व्यक्तियों को आपस की गुलामी की स्थिति मे डालने वाला व्यक्ति चौथे व्रत को भंग करता है, दया का खून करता है। इस प्रकार इन्द्रिय-निग्रह में सजग रहना यह गृहस्थ का चौथा व्रत है।

(५) परिग्रहमर्यादा—इच्छापरिमाण व्रत।

थूलाओ परिग्गहाओ वेरमणं—स्थूल परिग्रह से विरत होना। अर्थात्—गृहस्थ को परिग्रह का अथवा ममत्व का या तृष्णा का संकोच करना चाहिए। 'मैं सभी कुछ भोगूं, मैं करोड़पति बनूं;

में महलों का मालिक बन, इस प्रकार अहंकार मय, स्वार्थमय, सकीर्ण विचारों को यथासंभव दूर करना चाहिए।

इस व्रत का उद्देश्य यह नहीं है कि—घर-द्वार छोड़कर फकीर बन जाओ, भूखे मरो या कुटुम्ब का भरण-पोषण न करो।' पर इसका उद्देश्य यह है कि लोभ, मोह, ममत्व और जड़ पदार्थों की प्राप्ति में ही आनन्द मनाने की वृत्ति का त्याग करो। अपने आश्रितों की आवश्यकताएं पूर्ण करने के लिए प्रामाणिकता को त्याग कर अप्रामाणिकता का आश्रय न लो। अपनी इच्छा को सीमित करो। इच्छाओं के पीछे पीछे अविराम गति से दौड़ न लगाओ, वरन इच्छा को अपने अधीन बनाओ। परिग्रह से जितनी कम मूर्छा होगी, चित्त शान्ति उतनी ही अधिक प्राप्त होगी। इस प्रकार परिग्रह-बुद्धि का त्याग कर संतोष वृत्ति धारण करना गृहस्थ का परिग्रहमर्यादा व्रत है।

(६) दिशापरिमाण व्रत।

दिशापरिमाण—दिशाओं संबन्धी मर्यादा करना। अर्थात् गृहस्थ को निष्प्रयोजन, निरुपयोगी, परमार्थहीन भ्रमण, जितना कम हो सके उतना कम करना चाहिए।

(७) भोगोपभोगमर्यादा व्रत।

भोग-उपभोगपरिमाण—भोगों और उपभोगों का परिमाण करना। अर्थात् गृहस्थ को भोजन आदि भोगों की लालसा मर्यादित करनी चाहिए।

गृहस्थ को आदत से सादा, आत्मसंयमी, नि[illegible]
मिताहारी बनना चाहिए।

आवश्यकताएं जितनी ही कम होंगी, चिन्ताएँ, उपाधियाँ, लालच और परेशानी उतनी ही कम होगी और महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों की तरफ लक्ष्य देने का अधिक अवकाश मिलेगा।

देखादेखी, खानदानी का खोटा विचार, बड़प्पन दिखाने की मूर्खतापूर्ण लोलुपता और गुण-दोष को समझने की बुद्धि का अभाव, यह सब ऐसी बातें हैं जिनसे अनेक आवश्यक कमियां और आवश्यकताएँ उत्पन्न हो जाती है। इन आवश्यकताओं से शारीरिक निर्बलता, मानसिक अपवित्रता और बुद्धिहीनता पैदा होती है। अतएव सच्ची आवश्यकता के अनुसार ही उपभोग-परिभोग रखना उचित है-अधिक नहीं। अपनी वास्तविक आवश्यकताओं से अधिक भोगोपभोग की सामग्री न रखना गृहस्थ का भोगोपभोग परिमाण व्रत है।

८ अनर्थदंड त्याग—

अणट्ठादंड वेरमणं—अनर्थदंड से विरत होना। अर्थात् गृहस्थ को निरर्थक व्यापार मे-प्रवृत्ति में-मन, वचन, काया को लगाना उचित नही है। इसी प्रकार प्रयोजनहीन खटपट मे, निन्दा मे, दुर्ध्यान मे, चिन्ता मे, कुकर्म मे; खेद मे तथा भय मे शरीर-सम्पत्ति, धन सम्पत्ति तथा संकल्पसम्पत्ति का दुरुपयोग करना भी उचित्त नहीं है। क्योंकि आर्त्तध्यान या चिन्ता और रौद्रध्यान या किसी पर क्रोधमय विचार करना नीच काम है-आनन्दमय-वीरत्वमय आत्म-प्रभु का द्रोह करने के समान है। ऐसे कृत्यों

करण से सामायिक को अपना लें तो इन लड़ाइयों का शीघ्र अन्त आ सकता है।

दो घड़ी रोज विज्ञान का अध्ययन करने वाला महाविज्ञानी बन जाता है, दो घड़ी रोज अभ्यास करने वाला महा-पंडित बन जाता है, इसी प्रकार यदि आप दो घड़ी नित्य सामायिक मे खर्च करेंगे तो आपको अपूर्व शान्ति मिलेगी और महा-कल्याण का लाभ होगा।

मन को मजबूत बनाकर उसे सच्ची सामायिक में लगाइए। अगर आप संसार-भ्रमण को काटना चाहें और महान् व्याधियों से ग्रस्त आत्मा को उद्धारना चाहें तो महावीर की बतलाई हुई इस अमूल्य सामायिक रूपी महौषध का सेवन कीजिए।

समत्व प्राप्त करना ही सामायिक का प्रधान उद्देश्य है। प्रश्न उठ सकता है—समत्व की पहचान क्या है ? उत्तर होगा—क्षण-क्षण में शान्ति का अनुभव होना ही समत्व की पहचान है। जिस सामायिक के द्वारा ऐसा अलौकिक शान्ति-सुख मिलता है उसके आगे चिन्तामणि और कल्पवृक्ष किस गिनती मे हैं ?

सामायिक में बैठ करके भी जो अपने भाग्य को कोसता है, तुच्छ वस्तुओं के लिए भी आठ-आठ आँसू गिराता है, उसे कुछ लाभ नहीं होता। ऐसी सामायिक करने और न करने में ज्यादा अन्तर नहीं है।

सामायिक के समय श्रावक को समस्त सावद्य अर्थात् पाप-

द्य क्रियाओं से निवृत्त होकर निरवद्य अर्थात् निष्पाप क्रिया ही करनी चाहिए। इस प्रकार सावद्य क्रिया का त्याग कर समभाव प्राप्त करने का अभ्यास करना श्रावक का सामायिक व्रत है।

(१०) देशावकाशिक व्रत—

क्षेत्र या देश संबन्धी मर्यादा करना देशावकाशिक व्रत है। गृहस्थ को यथासंभव स्वदेश में बाहर से मगाई हुई वस्तु का उपयोग नहीं करना चाहिए। स्वदेशप्रेम और स्वदेशाभिमान रखना और स्वदेश को सुखी करने में साधनभूत न बनना भी गृहस्थ का देशावकाशिक व्रत है।

(११) प्रतिपूर्ण पौषधव्रत—

गृहस्थ को प्रतिमास, कम से कम एक बार, जब अवकाश या सुभीता हो और मानसिक तथा शारीरिक स्थिति अनुकूल हो तब निराहार रहना चाहिए, जिससे शरीर निरोग और सहनशील बने। इस स्थिति में चौबीस या बारह घन्टे आत्मरमण करते हुए व्यतीत करने चाहिए। इस व्रत के लिए विशेषत अष्टमी, चतुर्दशी या पूर्णिमा रूप पर्व-तिथियाँ अधिक उपयुक्त हैं।

(१२) अतिथिसंविभाग व्रत—

गृहस्थ को अपने उपकारी पुरुषों की सेवा-भक्ति करने का मौका मिले तब उल्लासपूर्वक उनकी सेवा करनी चाहिए। जो सब जगत का उपकार करने में ही अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं, जिन्हें अपने शरीर को लाभ [illegible] करने [illegible] [illegible]

नहीं मिलते, उनके अस्तित्व, आरोग्य और प्रवृत्ति की जगत् को अत्यन्त आवश्यकता होने से, उनकी आवश्यकताएँ जानना और उन्हें पूर्ण करने मे तत्पर रहना, उपकृत वर्ग का कर्त्तव्य है।

उन्होंने जिस मिशन को उठाया है, उसे निभाने के लिए आवश्यक शरीरबल, द्रव्यबल, समय, बुद्धि, परिचय आदि के द्वारा हिस्सा लेना, उनकी कठिनाइयों, संकटों और दुःखों को सहानुभूति के साथ दूर करने का जितना बन सके उतना प्रयास करना, उनके जय मे अपना और समाज का जय मानना, यह गृहस्थ का अतिथिसंविभाग व्रत है।

इस प्रकार नैतिक धर्म—सामान्य धर्म— के साथ व्रतधर्म—विशेष धर्म का पालन करने में गृहस्थ जीवन का विकास और साफल्य है।

व्रतधर्म के पालन से गृहस्थ जीवन को सुसंस्कृत बनाने के बाद श्रमणधर्म को स्वीकार करके राष्ट्र, समाज और धर्म का कल्याण-साधन करते हुए आत्मकल्याण के लिए त्यागमय जीवन व्यतीत करने मे ही मानव जीवन की चरम सफलता है।

मानव-जीवन को सफल बनाने के लिए चारित्रधर्म—आचार धर्म का पालन करना अत्यावश्यक है। सभी धर्मों मे एक मत से आचारधर्म की आवश्यकता स्वीकार की गई है।×

×श्रावक के आचारधर्म पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डालने वाला पूज्य श्री का व्रत साहित्य अलग प्रकाशित हो चुका है। जिज्ञासु पाठक इससे लाभ लेवें।

१०

जीवनधर्म

[अस्तिकाय धर्म]

'मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ ण केणइ।'

'समस्त प्राणियों के प्रति मेरा बन्धुभाव है। मेरा किसी के साथ वैर-विरोध नहीं है।' यह विश्वबन्धुत्व ही जीवन का आदर्श है।

अस्ति शब्द का मूल सत् शब्द है। सत् अर्थात् होना। जीवन का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाना अस्तिकाय धर्म है। इसे जीवनधर्म भी कहा जा सकता है। सत्प्रवृत्तियों के द्वारा जीवन को सत्यमय बनाना, सत्य का साक्षात्कार करने के लिए सतत उद्योग करते रहना जीवन का वास्तविक धर्म है।

जो व्यक्ति संस्कारिता, नागरिकता, राष्ट्रीयता आदि सद्गुणों को अपने जीवन में लाने-पाने की तरफ झुक लेता है वही व्यक्ति जीवनधर्म-आत्मधर्म को सांगोपांग जीवन में उतार सकता है।

जीवनधर्म का मर्म समझनेका अर्थ है आत्माको पहचानना। ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, आदि धर्म जीवन के अंग-उपांग हैं। जहां तक समानता का आदर्श जीवन मे नही उतरता वहाँ तक आत्मा की पहचान नहीं होती। और समानता का आदर्श जीवन में उतारने के लिए सब से पहले जीवन में मानवता प्रकट करनी पड़ती है। जब मानवता प्रकट होती है तब मानवका ध्येय-मंत्र बन जाता है-मै मानव हूँ। मुझे मानवता समझनी चाहिए और मानव के लिए ही जीवित रहना चाहिए; क्योंकि सभी धर्म महान हैं किन्तु मानवधर्म उन सब में महान् है।

जिसके जीवन में, रग-रग में मानवता व्याप जाती है वह मानता और समझता है कि धर्म मात्र मानव के लिए है। मानव को अधिक संस्कारी-अधिक सुन्दर, अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए धर्म है। अतएव जहाँ धर्म का पालन करने मे मानव के प्रति अन्याय होता हो वहाँ धर्म को साधन रूप मानकर उसकी पुन-र्योजना करना उचित है।

समस्त धर्म मानवधर्म रखने का साधन हैं। जो धर्म मानव के प्रति तिरस्कार उत्पन्न करता है, मनुष्य को मनुष्य से जुदा करना सिखलाता है, मानव को तुच्छ समझना सिखलाता है वह धर्म नहीं है। धर्म में ऐसी बातों को स्थान नहीं है।

मनुष्य धर्म का पालन करता है सो इसलिए नहीं कि वह अपने आपको ऊँचा ठहराने की कोशिश करे, बल्कि इसलिए कि

वह वास्तव में ऊँचा बने। धर्म-पालन का उद्देश्य वह उत्कृष्ट मनोदशा प्राप्त करना है, जिसमें विश्वबन्धुत्व का भाव मुख्य होता है। 'मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ ण केणई' अर्थात् समस्त प्राणियों के प्रति मेरा मैत्रीभाव-बन्धुभाव है, किसी के साथ मेरा वैर-विरोध नहीं है। जैसे सच्ची महत्ता सादी होती है उसी प्रकार यह महान मानवधर्म भी सरल और सादा है। इसे एक ही वाक्य 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' में प्रकट किया जा सकता है।

तुम्हारे लिए जो अनिष्ट है वह दूसरे के लिए भी अनिष्ट है। अगर तुम सड़ा पानी नहीं पी सकते तो दूसरा मनुष्य भी उसे नहीं पी सकता। अगर तुम अपनी बीमारी में दूसरों की सहायता चाहते हो तो दूसरा भी यही चाहता है।

अगर मनुष्य इतना सीधा-सादा मानवधर्म समझ ले और अपने समस्त साधन इस धर्म का विकास करने के लिए मान ले तो फिर धर्म सम्बन्धी अधिक ज्ञान इसी में से उसे मिल जायगा धर्म संबन्धी विधि-विधान खोजने के लिए उसे इधर-उधर नहीं भटकना पड़ेगा। मानवधर्म इतना सादा है कि उसे घड़ी भर में सब सीख सकते हैं; फिर भी मानवधर्म में रहने वाली गहनता इतनी उदार और भव्य है कि वह जीवन भर की शुद्धि की माग करती है। जीवनधर्म का आदर्श विकारों को जीतना और विश्व-बन्धुता सीखना है।

आत्मा को पहचानना अथवा जीवन धर्म या धर्म सम्बन्ध

का प्रचार किया था। संसारको आत्म-स्वातन्त्र्य का विजय-नाद सुनाने वाले ऋषभदेव से लेकर भगवान महावीर तक, चौबीस तीर्थंकरों ने जगत् के जीवों को बन्धनों से मुक्त होने का-स्वतन्त्र बनने का, जो विजयमार्ग बतलाया है वही विजयमार्ग जैनधर्म है। भगवान ऋषभदेव तथा महावीर आदि तीर्थंकरों ने आत्मविजय के जो मन्त्र जगत् को सिखलाए उनका संक्षिप्त सार यह है:—

(१) पहला विजयमन्त्र— स्वतन्त्र बनो, स्वतन्त्र बनाओ और स्वतन्त्र बने हुए महापुरुषों के चरणचिन्हों पर चलो।

(२) दूसरा विजयमंत्र—पराधीन मत बनो, पराधीन मत बनाओ, पराधीन का पदानुसरण मत करो।

(३) तीसरा विजयमंत्र—सर्वशक्ति को पुष्ट बनाओ।

(४) चौथा विजयमंत्र—संघशक्ति को पुष्ट बनाने के लिए विवेक बुद्धि का उपयोग करो, कदाग्रह बुद्धि के स्थान पर समन्वय बुद्धि को स्थान दो।

(५) पांचवां विजयमंत्र—अपनी आत्मिक शक्ति में दृढ़ विश्वास रक्खो, बाहर की लुभावनी शक्ति का लोभ मत करो। विजय की आकांक्षा मत त्यागो और विजय प्राप्त करते जाओ।

पूर्वलिखित विजयमंत्रों के आधार से जैन धर्म का मुख्य सिद्धान्त

इस प्रकार फलित होते हैं।

आत्मस्वातन्त्र्य-अहिंसावाद—छोटे बड़े सभी प्राणियों की आत्मा स्वतन्त्र है। किसी को किसी की स्वतन्त्रता छीनने का कोई अधिकार नहीं है। कीड़ी से कुंजर तक सभी छोटे-मोटे जीवधारी आत्मस्वातन्त्र्य की दृष्टि से समान हैं। अतएव किसी भी प्राणी को स्वार्थ के खातिर, मोक्षप्राप्ति या धर्म के बहाने से मारने का-बलिदान करने का-घात करने का अथवा उसे कष्ट देने का किसी को अधिकार नहीं है।

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नही चाहता। सभी निर्भय रहना चाहते है। अतएव निर्भय रहो, दूसरों को निर्भय बनाओ और निर्भय बनने वालों की मदद करो। 'अहिंसा परमो धर्म' इस सनातन धर्म का मूल आत्मस्वातन्त्र्य के इसी सिद्धांत में निहित है। आत्मस्वातन्त्र्य या अहिंसावाद का यह पहला विजयमंत्र है।

(२) कर्मवाद-निसर्गत. स्वाधीन आत्मा कर्म-बन्धनों मे जकड़ कर पराधीन हो रहा है। कर्म की वेड़ी काटकर पराधीन आत्मा को स्वाधीन बनाना मानव-पुरुषार्थ की सार्थकता है। किसी भी प्रकार की पराधीनता के आगे; चाहे वह सामाजिक हो या धार्मिक हो, नतमस्तक नहीं होना चाहिए। यही नहीं, साक्षात् ईश्वर की भी पराधीनता अंगीकार करने योग्य नहीं है। जहां स्वाधीनता है वहाँ सुख है, जहाँ परांधीनता है वहां दुःख है।

इस प्रकार फलित होते हैं।

आत्मस्वातन्त्र्य-अहिंसावाद—छोटे बड़े सभी प्राणियों की आत्मा स्वतन्त्र है। किसी को किसी की स्वतन्त्रता छीनने का कोई अधिकार नहीं है। कीड़ी से कुंजर तक सभी छोटे-मोटे जीवधारी आत्मस्वातन्त्र्य की दृष्टि से समान है। अतएव किसी भी प्राणी को स्वार्थ के खातिर, मोक्षप्राप्ति या धर्म के बहाने से मारने का-वलिदान करने का-घात करने का अथवा उसे कष्ट देने का किसी को अधिकार नहीं है।

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नही चाहता। सभी निर्भय रहना चाहते है। अतएव निर्भय रहो, दूसरों को निर्भय बनाओ और निर्भय बनने वालों की मदद करो। 'अहिंसा परमो धर्म' इस सनातन धर्म का मूल आत्मस्वातन्त्र्य के इसी सिद्धांत मे निहित है। आत्मस्वातन्त्र्य या अहिंसावाद का यह पहला विजयमंत्र है।

(२) कर्मवाद-निसर्गत. स्वाधीन आत्मा कर्म-बन्धनों मे जकड़ कर पराधीन हो रहा है। कर्म की बेड़ी काटकर पराधीन आत्मा को स्वाधीन बनाना मानव-पुरुषार्थ की सार्थकता है। किसी भी प्रकार की पराधीनता के आगे, चाहे वह सामाजिक हो या धार्मिक हो, नतमस्तक नहीं होना चाहिए। यही नहीं, साक्षात् ईश्वर की भी पराधीनता अंगीकार करने योग्य नहीं है। जहां स्वाधीनता है वहाँ सुख है, जहाँ पराधीनता है वहां दु:ख है

दुःख कौन चाहता है ? सभी सुख चाहते दिखाई देते हैं। जो शाश्वत सुख की अभिलाषा करने वाले को कर्मों की पराधीनता हटानी चाहिए। सुख-दुःख मनुष्य के हाथ में हैं। कृत कर्म के अनुसार सुख-दुःख की प्राप्ति होती है। कोई अलौकिक शक्ति सुख-दुःख नहीं देती। कर्म के प्रताप से ही आत्मा दुःखी होती है। ज्यों-ज्यों कर्म क्षीण होता चलता है त्यों आत्मा सुखी बनती जाती है।

(३) संघशक्ति-संघधर्म—जीवनसंग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए ऐक्यबल या संघशक्ति की परमावश्यकता है। ऐक्यबल के बिना जीवन की साधना दुष्कर हो जाती है, अतएव संघशक्ति की बड़ी आवश्यकता है। संघबल एकत्र करना आत्म-विजय प्राप्त करने का श्रेष्ठ साधन है।

(४) समन्वयबुद्धि-अनेकान्तवाद—अपने विरोधियों का वाद् में करने का और साथ ही उनके प्रति न्याय करने का अमोघ साधन अनेकान्तवाद है। यह विरोधी पक्ष को समझने समझाने का और अपने पक्ष को परिपूर्ण एवं सुदृढ़ बनाने का प्रबल साधन है। अनेकान्तवाद अपने विरोधियों को भी [illegible] [illegible] सकता है। अनेकान्तवाद से जीवन-व्यवहार में विवेक-बुद्धि या समन्वयबुद्धि [illegible] आ सकता है। विरोध की वैर-वसूली में धर्म, अधर्म बन जाता है और अनेकान्त दृष्टि के प्रकाश में तो धर्मविरुद्ध कृत्य, धर्म [illegible] बन सकता है। अनेकान्त [illegible] का सूचक है। अनेकान्तवाद जैनधर्म की विशेषता

है, फिर भी संसार का कोई विचारक उसकी उपयोगिता को अस्वीकार नहीं कर सकता।

अनेकान्तवाद, अज्ञान का अंधकार दूर करके ज्ञान का प्रकाश करता है। इससे विजय प्राप्त होती है। अहिंसा और अनेकान्तवाद का संगम आत्मविजय के लिए अनिवार्य है।

(५) आत्मविश्वास—विजयकांक्षी बन कर आत्मविश्वास पूर्वक प्रयत्न करना आत्मविजय का मूल मंत्र है। आत्मविश्वास को जैन परिभाषा में 'सम्यक्त्व' कहा जाता है। विश्वास के अभाव में आत्मविजय होना संभव नहीं है। आत्मशक्ति में संपूर्ण विश्वास के साथ प्रवृत्ति करते चलने में ही आत्मविजय है। बाहर की किसी भी शक्ति का भरोसा रख कर प्रवृत्ति करने से आत्मविजय प्राप्त नहीं हो सकती। याद रखो कोई भी जड़-शक्ति तुम्हारे भीतर प्राण नहीं डाल सकती।

जिसे आत्मविश्वास प्राप्त है वह विश्वविजेता बन सकता है। जो धर्म विश्वविजय का ऐसा अमोघ विजय-मन्त्र सिखलाता है, वह धर्म किसी एक फिरके का नहीं, मानव मात्र का—संपूर्ण जगत का धर्म हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

जिस धर्म का अनुसरण आत्मा जैसी अगम्य-अगोचर वस्तु का वैज्ञानिक दृष्टि से साक्षात्कार कराता है, वह धर्म जगत् को विश्वमैत्री एवं निर्वैरवृत्ति के द्वारा स्नेह के सूत्र में बांध दे और वैज्ञानिक सत्य का सफलतापूर्वक अन्वेषण करके जगत् को नवीन आविष्कारों से चकित करे, वह स्वाभाविक है।

इस प्रकार जिस व्यक्ति के जीवन में विश्वबन्धुत्व अर्थात् 'जैनत्व' प्रकट हो जाता है वह जीवनधर्म-आत्मधर्म को साक्षात् करता है। वह अनखोजेकी खोज करके और खोजे हुए को जीवन के साथ एकरस करके आत्मशुद्धि प्राप्त करता है।

सर्वे सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात् ॥

सब जीव सुखी हों। सब जीव निरोग हों। सब का कल्याण हो। कोई दुःखका भागी न हो। जीवनधर्म का यह ध्येय मंत्र है।

शास्त्र में अस्तिकाय धर्म की परिभाषा इस प्रकार दी गई है

अस्तयः प्रदेशास्तेषां कायो राशि-रस्ति कायः । स एव धर्मो गतिपर्याये जीवपुद्गलयोर्धारणादित्यस्तिकाय धर्मः ।

अर्थ-प्रदेशों के समूह को अस्तिकाय धर्म कहते है ; तद्रूप जो धर्म है वह जीव और पुद्गल को गतिपर्याय में धारण करता है, इसलिए अस्तिकाय धर्म कहलाता है।

यहाँ टीकाकार ने पाँच अस्तिकायों में से केवल धर्मास्तिकाय को ही अस्तिकाय धर्म गिनाया है।

श्री भगवतीसूत्र ने नाम के साधर्म्म से धर्म और धर्मास्तिकाय को पर्यायवाची गिना है। इसी कारण टीकाकार ने भी यहाँ अस्तिकायधर्म मे धर्म। शब्द के साथ धर्मास्तिकाय को ही उदाहरण स्वरूप बतलाया है। धर्मास्तिकाय को धर्म का सहधर्मी बताने का एक कारण यह भी हो सकता है कि धर्मास्तिकाय गति-सहायक द्रव्य है। अतएव कर्म का नाश करने मे धर्मास्तिकाय की भी सहायता अपेक्षित है। शायद इस अभिप्राय से शास्त्रकार ने धर्म और धर्मास्तिकाय को एक गिना हो।

पूर्ति

परिशिष्ट (१)

धर्म और भ्रम

(१)

[इन धर्मों को ठीक तरह समझने के लिए यहां जो परिशिष्ट दिये जा रहे हैं उनमें से अधिकांश संकलित हैं और कुछ नवीन लिखे गये हैं। आशा है पूर्वोक्त धर्मों की संकलना समझने में यह सहायक होंगे]

जैसे खान में सोने के साथ मिट्टी मिली रहती है वैसे ही धर्म के साथ लोकभ्रम मिला रहता है। धर्म का व्यापक अर्थ सनातन संबन्ध अथवा नियम है। जलाना अग्नि का धर्म है। भूख लगना प्राणी मात्र के देह का धर्म है। बालक को प्यार करना माता का धर्म है। बहुमति के आधीन होना संघ का धर्म है। इन्द्रियों पर विजय करना आत्मा का धर्म है। स्वार्पण करना हृदय का धर्म है। उपर्युक्त समस्त विधानों में न्यूनाधिक परिमाण में धर्म का [illegible] अर्थ [illegible] है।

भौतिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक संबन्धों के यथार्थ दर्शन पर धर्म की रचना की गई है।

जब तक मनुष्य इन शाश्वत नियमों को समझ नहीं लेता तब तक वह झूठी कल्पनाएं करता रहता है। उन्हीं को धर्म मान बैठता है।

अग्नि की ज्वाला शान्त होने पर जैसे अग्नि में से धुआँ निकलता है उसी प्रकार जब मनुष्यबुद्धि और मनुष्यहृदय जड़ बन जाता है और आत्मजागृति मंद हो जाती है, तब इस तरह भ्रम उत्पन्न होते हैं।

नास्तिकता के पानी से लोकभ्रम रूपी हृदय की अग्नि शान्त करना सच्चा उपाय नहीं है। सच्चा उपाय यह है कि ऐसे अवसर पर जिज्ञासा और अनुभव की फूंक से धार्मिकता सचेत की जाय और धर्म की ज्योति फिर जाज्वल्यमान की जाय।

धर्मशिक्षण और धर्म के गहरे चिन्तन-मनन से लोकभ्रम का नाश और धर्म का उदय होता है। अज्ञान और भय-लालच धर्म के कट्टर शत्रु हैं क्योंकि धर्म का नाश करने वाला लोकभ्रम अज्ञान और भय से ही उत्पन्न होता है।

ऋषि-मुनि या धर्मसंस्थापक जब तक अपनी श्रद्धा और अपने अनुभव की बात करते हैं, जब तक उनमें शुद्ध सत्य अथवा सनातन धर्म का वास होता है, परन्तु जब वे अथवा उनके अनुयायी जितने अंश में अपनी रूढ़ मान्यताओं और कल्पनाओं को

असावधानी से, अनजान से या जानबूझ कर धर्म मे मिला देते हैं, उतने ही अंश में उस धर्म में अशुद्धि आ जाती है। और जब धर्म के अन्धे अनुयायी उस अशुद्ध धर्म को पकड़ बैठते हैं तब धर्मसेवकों के हाथ से ही धर्म का पराजय होता है।

(२)

धर्मसंस्करण

मानवजीवन का चारों ओर से विचार करने वाला अगर कोई है तो धर्म ही है। जीवनका स्थायी अथवा अस्थायी-एक भी ऐसा अंग नहीं, जिसका विचार करना धर्म का कर्त्तव्य न हो। अतएव धर्म मनुष्य के सनातन जीवन जितना ही बल्कि उससे भी अधिक व्यापक होना चाहिए और समग्र जीवन उसका क्षेत्र है अतएव वह अत्यन्त उत्कट रूप से जीवित होना चाहिए।

आज जगत् मे जो धर्म प्रख्यात है वे अधिकांश मे ऐसे ही व्यापक हैं। स्थापना के समय तो वे सब जीवित थे ही परन्तु धार्मिक पुरुषों ने, बारम्बार उनकी चेतना जगाकर उन्हें जीवित रक्खा है। सिगड़ी की आग स्वभावतः बार बार मन्द हो जाती है। उसमें कोयला डालकर और फूंक मारकर बार बार संस्कार करना पड़ता है। ऐसा करने से वह जीवित और जागृत रहती है। इसी प्रकार समाज मे धर्म को जागृत रखने के लिए धर्म-परायण पुरुषों को उसे फूंकने और ईंधन देने का काम करना पड़ता है। समय समय पर यह काम न होता रहा तो धर्मजीवन

क्षीण और विकृत होता जाता है, और धर्म का क्षीण तथा विकृत रूप अधर्म के समान ही हानिकर होता है। धर्म को चतन्य और प्रज्वलित रखने का काम धर्मैकपरायण व्यक्ति ही कर सकते हैं।

धर्म का अंतिम आधार मनुष्यहृदय है। धर्मजिज्ञासा और धर्मविचार मनुष्य का स्वभाव है, इस कारण सब कालों और सब दिशाओं में, विकास की मर्यादा के अनुसार मनुष्य के हृदय मे धर्म का आविर्भाव हुआ है। यह हृदयधर्म कितना ही कलुषित या मलिन क्यों न हो, पर उसकी मूल वस्तु शुद्ध है। अशुद्ध सोना पीतल नहीं है और पीतल चाहे जितना शुद्ध, चमकदार और बढिया घाट का हो, फिर भी वह सोना नही है। कोरी बुद्धि के बल पर खड़ा किया गया, लोगों मे रहे हुए राग-द्वेष से लाभ उठा कर चालू किया गया और थोड़े-बहुत लोगों का स्वार्थपोषण करने वाला धर्म, धर्म नही है। असंस्कारी हृदय की क्षुद्र वासना और दंभ से उत्पन्न होने वाली विकृति को छिपाने वाला, शिष्टा-चार या चतुराई के साथ तर्क से किया जाने वाला बचाव भी धर्म नहीं है। अज्ञान, भोलापन और अधश्रद्धा, इन तीन दोषों से कलुषित धर्म, अधर्म की कोटि पर पहुँच जाय तो बात जुदी है और जो मूल से ही धर्म नहीं है किन्तु सिफ्त से जो धर्म का रूप धारण करता है, यह बात भी अलग है। मानव-इतिहास में धर्म के उपर्युक्त दोनों प्रकार पर्याप्त परिमाण मे मिल सकते हैं, किन्तु इन दोनों बातों का पृथक्करण करके उनका यथार्थ स्वरूप पह-चानने का कष्ट अब तक मनुष्य ने नहीं उठाया है।

चालू दुकान अपनी आबादी कायम रखने और बढाने के लिए पुराने और निकम्मे माल को अलग निकाल फेंकती है, और पडे-पडे बिगडे हुए माल का साफ-सुथरा करती है, इसी प्रकार धर्म को भी बारम्बार अपना संस्करण करना चाहिए। अलबत्ता यह संस्करण ऐसे लोगों द्वारा होना चाहिए जिनमें खरा सोना परखने और उसे सँभाल रखने की शक्ति है, जो कुशल, धर्मज्ञ और समाजसेवक है। जगत् मे आज जो नास्तिकता बढ़ गई है, उसका कारण प्राय. धर्मसंस्करण का अभाव ही है।

—काका कालेलकर

परिशिष्ट ३

ग्राम धर्म

जब तक मनुष्यसमाज का जीवन अन्न और वस्त्र पर अवलंबित है जब तक खेती ही समाज का एक मात्र महत्वपूर्ण और अनिवार्य धन्धा रहेगा। साथ ही मानव-समाज को खेती के लिए गावों में ही निवास करना पडेगा।

अन्न और वस्त्र के सिवाय, मनुष्य के सामने जब दूसरी आवश्यकताएं खड़ी होंगी तब उनकी पूर्त्ति के लिए तथा परस्परावलंबी समाज को सुनियन्त्रित और नियम बद्ध करने के लिए बाजार हाट तथा नगर भी अवश्य उत्पन्न होंगे।

रहना स्वीकार करेगा, तब तक राजधानी और उसकी व्यवस्था भी अनिवार्य रहेगी। यह सब होने पर भी मानवजाति का मुख्य केन्द्र तो ग्राम ही है; क्योंकि खेती के साथ ग्राम का सजीव संबंध है।

यूरोप में औद्योगिक प्रगति के नाम पर इस स्वाभाविक स्थिति को बदल कर देश देशान्तरों के साथ संबंध जोड़कर खेती के बदले कारखानों को अधिक महत्व दिया गया है। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि गांव एकदम वीरान-ऊजड़ होगये और जहां तहां छोटे नगर बसने लगे। नागरिक, गांवों का सार भी अपनी ओर खींच लेजाने लगे।

नगर ग्रामों की आवश्यकता की पूर्त्ति करने के बदले आज उन्हीं को आजीविका का साधन बना बैठा है। इतना ही नहीं, पर अपनी आजीविका की पूर्त्ति ग्रामों से होती है इसलिए ग्राम को जीवित रखा जा रहा है। कृत्रिम स्थिति के कारण मानव-समाजका आरोग्य। उसकी आयु, उसका चरित्र और उसकी संतोष वृत्ति को भारी आघात पहुंचा है। इस आघात को दूर करने और ग्रामों को पुनः सजीवन करने मे ही मानवसमाज का कल्याण है।

ग्रामधर्म का पालन करने से ही ग्रामों की पुन प्राणप्रतिष्ठा की जा सकती है। ग्रामधर्म का पालन करने से ग्राम फिर सजीव हो उठेंगे।

(२)

ग्रामोद्धार

आज हिन्दुस्थान में ग्रामीण समाज की असाधारण दुर्दशा है। ग्रामों में शहरों से विदेशी माल और मौज शौक की विशेष वस्तुएं पहुंचती है—उद्योग धन्धा नहीं। शहर के दुर्गुण वहाँ तीव्रता से फैलने लगे है पर शहर मे धर्म विचार सम्बन्धी जो जागृति, राजनीतिक प्रगति और समाजसुधार की प्रवृत्ति थोडे-बहुत अंशों मे दृष्टिगोचर होती है, उसकी गन्ध ग्रामों में अत्यल्प प्रमाण में पहुंच पाती हे।

देश देशान्तर मे हमारे जिस धर्म का बखान किया जाता है वह धर्म और गावों का पाले जाने वाला धर्म एक नहीं रहा है। ग्रामों मे सच्ची धर्मनिष्ठा, पवित्र आस्तिकता और उच्च चारित्र सम्पत्ति कल तक थी, आज भी उसके अवशेष दिखाई देते हैं; परन्तु अबुद्धि जड़ता और नास्तिकता का ही साम्राज्य वहाँ सर्वत्र फैल रहा है। अतएव ग्रामीण समाज मे बुढ़ापा सा अधिक नजर आता है। ग्राम मे अज्ञान है, अनारोग्य है और गरीबी है। अगर यह तीन दोष दूर न किये गये तो गाँव का समाज टिक नहीं सकता। पर ज्ञान, आरोग्य और उद्योग ऊपर से कितना लादा जा सकता है! ऊपर से लादने के उपायों की मर्यादा होती है। इस तरह त्रिपुटी को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार करने से पहले समाज

का बुढ़ापा दूर होना आवश्यक है। समाज में उत्साह और उत्थान आना चाहिए। धर्मसंस्करण के बिना यह बात बन नहीं सकती, इसलिए और सब बातें छोड़कर पहले गाँवों में धर्म-संस्करण का यथायोग्य प्रयत्न करना चाहिए।

ग्रामों में जिस धर्म का पालन होता है, उसमें भय, घूंस, दैववाद और जंत्र-मंत्र वाला कर्मकाण्ड ही मुख्य होता है।

—काका कालेलकर

परिशिष्ट ३

नागरधर्म

फ्रांसीसियों की

मानव तथा नागरिक अधिकार घोषणा

(१) समाज का हेतु सार्वजनिक कल्याण है। स्वाभाविक तथा कालाबाधित अधिकारों के उपभोग की मनुष्य को खातिरी देने के लिए राज्य की स्थापना की गई है।

(२) यह अधिकार समानता, स्वतन्त्रता, सुरक्षा तथा स्वत्व है।

(३) मनुष्य मात्र प्रकृति और कानून की नजरों में समान हैं।

(४) कानून, सामान्य इच्छा का स्वतन्त्र और गम्भीर उद्गार है। रक्षा करने और दंड देने में वह सब के लिए एक है। वह

न्यायसंगत और समाजहितकारी बात के सिवाय किसी और चीज का विधान नहीं कर सकता, तथा समाज के लिए अहित-कर चीज के सिवाय किसी और का निषेध नहीं कर सकता।

(५) समस्त नागरिक सार्वजनिक नौकरियों में समान रूप से प्रवेश के पात्र हैं। स्वतंत्र प्रजा अपनी पसंदगी के लिए सुशीलता और सुमति को छोड़कर और किसी आधार को जानती ही नहीं है।

(६) स्व ंत्रता अर्थात् जिससे दूसरों को हानि न पहुँचे, वह सब करने का मनुष्य की सत्ता। प्रकृति स्वतंत्रता की जननी है, न्याय उसका नियम है, कानून उसका रक्षक है; उसकी नैतिक मर्यादा इस न्याय में है कि-दूसरों का जो व्यवहार तुम अपने लिए पसद नहीं करते, वह व्यवहार तुम दूसरे के प्रति मत करो।

(७) समाचारपत्रों द्वारा या किसी भी अन्य उपाय द्वारा अपना विचार-अपना अभिप्राय प्रकट करने के अधिकार की, शान्तिपूर्वक सभा करने की, धर्म का निर्बाध आचरण करने की मनाई नही हो सकती।

(८) सुरक्षितता अर्थात् अपने शरीर, अपने अधिकार और अपने स्वत्व का बचाव करने के लिए समाज अपने प्रत्येक अंग-भूत व्यक्ति को आश्वासन दे।

(९) राज्यकर्त्ताओं के अत्याचार से सार्वजनिक तथ व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा करना कानून का कर्त्तव्य होन चाहिये।

(१०) मनुष्य की सम्मति विना उसकी जायदाद में से जरा भी हिस्सा नहीं लिया जा सकता।

(११) सर्वोपरि सत्ता जनता में अधिष्ठित है; वह एक अविभाज्य, कालावाधित और अदेय है।

(१२) अपने विधान को फिर जाँचने, सुधारने और बदलने का अधिकार प्रजा को सदैव प्राप्त है। एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को अपने कानूनों के अधीन नहीं कर सकती।

(१३) कानून बनाने और प्रतिनिधि निर्वाचित करने मे सम्मति देने का प्रत्येक नागरिक को समान अधिकार है।

(१४) अत्याचार का विरोध करना, यह मनुष्य के दूसरे अधिकारों से फलित होता है।

(१५) राज्यकर्त्ता जब प्रजा के अधिकारों का उल्लंघन करे, तब प्रजा के लिए और प्रजा के प्रत्येक अंग के लिए, बलवा करना परम पवित्र अधिकार और परम अनिवार्य धर्म है।

('राजकथा' से)

परिशिष्ट ४

राष्ट्रधर्म के मुख्य अंग

[चीन राष्ट्र के नेता डा. सन-यात-सेन के राष्ट्रीय सिद्धांत]

राष्ट्र और प्रजा

(१)

प्रजा का राष्ट्र-राष्ट्र प्रजा के सहारे जीवित है, अतएव वह प्रजा का है। प्रजा का पालन पोषण करना राष्ट्र का धर्म है और

राष्ट्र को समृद्ध बनाना प्रजा का धर्म है। राष्ट्र और प्रजा दोनों आसन्न हैं। प्रजा की दुर्बलता से राष्ट्र दुर्बल होता है और प्रजा की सबलता से राष्ट्र सबल बनता है। यह एक ऐतिहासिक सत्य है। प्रजा की एकता, रक्तैक्य, भाषा-ऐक्य, अजीविका-ऐक्य, धर्म-ऐक्य, गुणस्वभाव-ऐक्य, आदि प्राकृतिक शक्तियों पर अवलंबित है और प्रजा की एकता पर राष्ट्र की एकता निर्भर है।

प्रत्येक प्रजा मे अपने राष्ट्र की भावना, राष्ट्रीय आत्मा, राष्ट्रीय स्वभाव और राष्ट्रीय सजगता अवश्य होनी चाहिए, क्योंकि प्रजा की राष्ट्रीय भावना मे ही राष्ट्र का उत्थान है। प्रजा में अगर राष्ट्रीय भावना न हो अथवा वह लुप्तप्राय हो गई हो तो राष्ट्रधर्म का अध.पतन अवश्यंभावी है।

जिस प्रजा-संघ में संगठन है उस प्रजा का राष्ट्र अजेय है, अमर है। इतिहास इस बात की साक्षी देता है।

प्रजा की शक्ति

(२)

राजसत्ता का पूरा-पूरा अधिकार प्रजा के हाथ में है। यही बात सदियों पूर्व चीनी महर्षि मन सू अस ने कही थी-'प्रजा सब से अधिक मूल्यवान है, तत्पश्चात् मंदिर और फिर अंत में

परन्तु इतिहास से एकदम उल्टी बात मालूम होती है। स्वेच्छाचारी राजाओं और सम्राटों ने हमेशा प्रजा के अधिकारों का अपहरण किया है और करते आये हैं।

प्रजासंघ द्वारा राज्य का संचालन होना चाहिए, यह वर्त्तमान युग की आवाज है। अतएव हम लोग वर्त्तमान युगको प्रजातन्त्र का युग कह कर पहचानते हैं। प्रजातन्त्र के लिए अनेक विद्रोह हुए हैं। उनमें अमेरिका का स्वातन्त्र्य युद्ध और फ्रांसकी राज्यक्रांति का सफलता में प्रधान भाग है। पर उन्होंने राज्यक्रांति की सफलता के लिए खून खच्चर किया था और रक्त की नदियां बहाई थीं।

क्या अमेरिका और फ्रांस की मारकाट द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त करनेका आदर्श चीनके लिए आदर्शहै? आदरणीय है? नहीं कदापि नहीं। मारकाट द्वारा स्वातन्त्र्य-प्राप्ति का आदर्श चीन राष्ट्र की प्राचीन संस्कृति और चीनी प्रजा की मनोवृत्ति से सर्वथा विरुद्ध है। मध्य युगसे ही यूरोपमें राजाओं तथा सम्राटोंके अत्याचार अनाचार तथा धार्मिक दमन इतना अधिक फैल गया था कि जिससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट हो गई थी। अतएव यूरोप की प्रजा स्वतन्त्रता को अत्यन्त प्रिय और पवित्र मानने लगी। उसे पानेके लिए प्राणों की भी परवाह नहीं की। उसका प्रधान स्वर था 'हमे स्वतन्त्रता दो या मौत दो।' पर उनकी स्वतन्त्रता वैयक्तिक थी, राष्ट्रीय स्वतन्त्र नहीं थी। ऐसी वैयक्तिक स्वतन्त्रता चीनमे अत्यन्त प्राचीन भी थी पर राष्ट्रीय स्वतन्त्रताके आगे वैयक्तिक स्वतंत्रता

जरा-सी भी नहीं है। अतएव चीन की प्रजा को अब राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए वैयक्तिक स्वतन्त्रता का बलिदान करना पडेगा। इस समय चीन राष्ट्रका आदर्श वैयक्तिक स्वतन्त्रता नहीं वरन् राष्ट्र की पूर्ण स्वाधीनता है। प्रजा ही राष्ट्र को शक्ति प्रदान कर सकती है। इसलिए राष्ट्र का कार्य व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए राष्ट्रशक्ति पाँच भागों मे विभाजित कर लेनी चाहिए.—(१) शासन (२) विधान (३) न्याय (४) परीक्षा (५) निरीक्षण। राष्ट्रशक्ति को इस प्रकार व्यवस्थित रूप देने से राज्यव्यवस्था सुन्दर होगी और उसके फलस्वरूप राष्ट्र और प्रजा में मित्रता कायम रह सकेगी।

एक ओर शासनयंत्र सुदृढ़ हो और दूसरी ओर शासनयंत्र चलाने वाली प्रजा भी बलवान बने तो शासनशक्ति, राजतन्त्र और प्रजा के बीच बराबर कॉटी रह सकेगी। शासनशक्ति की इस प्रकार व्यवस्था होने पर प्रजा-संघ पूर्ण प्रजातन्त्र प्राप्त कर सकता है।

परिशिष्ट ५

व्रतधर्म की आवश्यकता

व्रत अर्थात् अटल निश्चय। कठिनाइयों को जीतने के लिए व्रतों की आवश्यकता है। कठिनाई सहन करने पर भी जो भंग न हो वही अटल निश्चय गिना जाता है। सारे संसार का अनुभव इस बात की साक्षी देता है कि ऐसे अटल निश्चय के विना

मनुष्य ऊपर ही नहीं चढ़ सकता। पाप रूप प्रवृत्ति का निश्चय व्रत नहीं कहलाता, यह राक्षसी वृत्ति है। हां, कोई निश्चय पुण्य रूप ज्ञात पड़ा हो और अन्त मे पाप रूप सिद्ध हो तो उसे त्यागना अवश्य धर्म है। पर ऐसी वस्तु के विषय मे कोई व्रत नहीं लेता-नहीं लेना चाहिए। जो धर्म सर्वमान्य गिना गया हो और जिसका आचरण करने की टेव न पड़ी हो उसी के संबन्ध में व्रत होता है। सत्य कहने से किसी को हानि पहुँच जाय तो? सत्यवादी ऐसा विचार करने नहीं बैठता। सत्य से, ससार मे न किसी को हानि हुई है, न होगी, ऐसा सत्यवादी को विश्वास होना चाहिए। 'देह जाय या रहे मुझे तो धर्मकापालन करना ही है' ऐसा भव्य निश्चय करने वाला ही किसी समय परमात्मा की झलक पा सकता है। व्रत का ग्रहण करना कमजोरी का सूचक नहीं है, उलटा बल-सूचक है। अमुक बात करना उचित है, तो करना ही, इसका नाम है व्रत; और इसमें बल है। भले ही इसे व्रत शब्द न कह कर किसी और शब्द से कहा जाय। इसमे कोई हानि नहीं है। 'जहां तक बन पड़ेगा करूंगा' ऐसा कहने वाला अपनी कमजोरी तथा अभिमान का प्रदर्शन करता है वह भले ही इसे नम्रता कह कर प्रगट करे, पर इसमे नम्रता की गंध तक नहीं है। 'जहां तक बन पड़ेगा' यह वचन शुभ निश्चयों में जहर के समान यह सत्य मैंने अपने जीवन मे और बहुतों के जीवन मे 'जहां तक बन पडेगा' अर्थात् पहली कठिनाई आते ही जाना। 'जहां तक बन पड़ेगा सत्य का पालन करूंगा'

का कुछ अर्थ ही नहीं है। व्यापार में 'जहां तक बन पड़ेगा' अमुक तारीख पर, अमुक रकम भर देने की चिट्ठी स्वीकार ही नहीं की जा सकती। इसी प्रकार जहाँ तक बन पड़ेगा, वहाँ तक सत्य पालने वाले की हुण्डी ईश्वर की दूकान पर नहीं सटाई जा सकती।

ईश्वर स्वयं निश्चय-व्रत की सम्पूर्ण मूर्ति है। उसके कायदे मे से एक भी अणु फिर जाय तो वह ईश्वर ही न रहे। सूर्य महाव्रतधारी है, इसलिए जगत् का कालनिर्माण होता है और शुद्ध पंचांग की रचना हो सकती है। उसने ऐसी साख जमा ली है कि वह सदैव उगा है और सदैव उगता रहेगा और इसी कारण हम अपने को सुरक्षित मानते हैं। व्यापार मात्र का आधार एक टेक पर अवलंबित है। अगर व्यापारी एक दूसरे के प्रति बँधे न हों तो व्यापार चल नहीं सकता। इस प्रकार व्रत सर्व व्यापक वस्तु नजर आती है। व्रत के विषय में हमारे मन में कभी शंका उठनी ही नहीं चाहिए।

—महात्मा गांधी।

परिशिष्ट ६

गणधर्म

प्राचीन भारत का राज्य धर्मराज्य सा था। राजा और प्रजा के बीच धर्म का संबन्ध था। राजा के हित में प्रजा अपना हित

मानती थी और प्रजा के हित मे राजा अपना हित समझता था। इस प्रकार राज्यशासन भलीभांति चलता था। राज्यशासन सुव्यवस्थित चलने में एक मुख्य कारण था-गणधर्म की प्रतिष्ठा गणधर्म को आज की भाषा में प्रजासत्तात्मक शासनप्रणाली कह सकते हैं। राजा भी प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता था। अतएव एक तरह से प्रजा अपना शासन आप करती थी। इस प्रजासत्तात्मक शासनप्रणाली से गणराज्यों की ऋद्धि-सिद्धि अत्यन्त समृद्ध बनी थी और गण-राज्यों का आपसी संबंध बहुत गाढ़ा था।

शासन की सुव्यवस्था के लिए गणराज्यों के प्रतिनिधि संथागार Town hall में प्राय मिलते रहते थे और विचारविनिमय करके प्रजाहित के उपायों की योजना करते थे।

भगवान महावीर के समय में, भारतवर्ष में गणधर्म की बड़ी प्रतिष्ठा थी। उस समय किसी के हाथ मे, सर्वोपरि निरंकुश सत्ता नहीं थी। तब विखरे हुए अनेक छोटे-मोटे राज्य थे। बड़े-बड़े राज्य राजसत्ताक और छोटे-छोटे राज्य गणसत्ताक थे।

राजसत्ताक* राज्यों मे मगध का राज्य, कोसल का राज्य, वत्स का राज्य, अवन्ति का राज्य-इस तरह चार राज्य मुख्य जान पड़ते हैं। गणसत्ताक राज्यों में लिच्छविवंशीय, वज्जिवंशीय, कोल्लिवंशीय, ज्ञातृवंशीय, मल्लवशीय आदि क्षत्रियों के गणराज्य मुख्य थे। गणसत्ताक राज्य उस समय लगभग अठारह की

* देखो-'Buddhist India' by Rhys davids ch I

में थे। और उन गणराज्यों मे मुख्यतः वैशाली, कुण्डपुर, कपिल-वस्तु, कुशीनारा और पावा आदि स्थान मुख्य थे।

गणसत्ताक राज्यों का संगठन सुन्दर था। राज्यव्यवस्था सुव्यवस्थित थी और राजा प्रजा के बीच धर्मभाव की घनिष्ठता थी। यह बात जैनागमों और बौद्धागमों से भलीभाँति प्रगट है।

इन सब गणसत्ताक राज्यों के गणनायक, वैशाली के अधि-पति राजा चेटक थे, जो भगवान् महावीर के संसार पक्ष के मामा होते थे।

इन राजसत्ताक और गणसत्ताक राज्यों के विषय मे प्रज्ञापना सूत्र और सूयगडांग सूत्रों की टीका से अनेक विशेष बाते मालूम हो सकती है, जहाँ साढ़े पच्चीस आर्य देशो के नाम का उल्लेख किया गया है। अंगुत्तरनिकाय नामक बौद्धगम मे भी सोलह देशों की गणना करते हुए इन देशों का उल्लेख किया गया है।

गणसत्ताक राज्यों में कितना सुन्दर संगठन था, यह जानने के लिए उस प्रसिद्ध लड़ाई का वर्णन पढ़ना चाहिए, जो मगधराज अजातशत्रु (कौणिक) द्वारा, अपने हल्ल-विहल्ल नामक भाइयों के प्रति किये जाने वाले अन्याय को रोकने के लिए, महाराज चेटक ने अठारह गणराज्यों की सहायता से की थी। वह 'रथमूसल' तथा महाशिलाकंटक नाम का युद्ध अत्यन्त विकराल था। वह युद्ध गणराज्यों के सुदृढ़ संगठन का जीता-जागता प्रमाण है।

परिशिष्ट ७

संघ संगठन के साधन

जिनशासन की भांति बुद्धशासन मे भी संघयोजना के संबंध में सुन्दर विचार किया गया है। संघयोजना में वह विचार बहुत उपयोगी हैं। अतएव यहां कुछ विचारों का उल्लेख कर देना उचित होगा।

संघसंगठन

सुखो बुद्धानमुप्पादो, सुखा सद्धम्मदेसना।
सुखा संघस्स सामग्गी, सम्मग्गानं तपो सुखं॥

अर्थात्-बुद्धों का जन्म सुखकर है। सद्धर्म की देशना सुखकारक है। संघ की सामग्री-संगठन सुखकारक है और संगठित होकर रहने वाले भिक्षुओं का तप सुखकारक है।

संघसंगठन की उपयोगिता और उसके लाभ

'एकधम्मो भिक्खवे! लोके उपज्जमानो उपज्जति बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, बहुनो जनस्स अत्थाय, सुखाय, देवमनुस्सानं। कतमो एकधम्मो? संघस्स सामग्गी। संघे खो पन भिक्खवे! समग्गे न चेव अञ्ञमञ्ञे भण्डनानि होन्ति, न च अञ्ञमञ्ञं परिभासा होन्ति, न च अञ्ञमञ्ञं

परिक्खेवा होन्ति, न च अञ्ञमञ्ञं परिच्चजना होन्ति, तत्थ अप्पसन्ना चेव पसीदन्ति, पसन्नानञ्च भीयोभावो होतीति ।'

अर्थात्-हे भिक्षुओ ! लोक मे एक धर्म ऐसा है, जिसे सिद्ध करने से बहुत लोगों का कल्याण, बहुत लोगों का सुख, तथा देव और मनुष्य सहित बहुत लोगों का कल्याण, सुख और इच्छित अर्थ सिद्ध होता है ।

'वह धर्म कौन-सा है ?'

'संघ का संगठन ।'

भिक्षुओ ! संघ का संगठन होने से परस्पर क्लेश-कलह नही होता, परस्पर अपशब्द-गाली गलौज-का व्यवहार नही होता, परस्पर आक्षेप-विक्षेप नही होता, परस्पर परितर्जना नही होती । इस प्रकार संघ का संगठन होने से अप्रसन्न भी प्रसन्न हो जाते हैं (हिलमिल कर रहने लगते है) और जो प्रसन्न हैं उनमें खूब सद्भाव उत्पन्न होता है ।

संघसंगठन-साधक की सिद्धि

सुखा संघस्स सामग्गी, समग्गानञ्च अनुग्गहो ।
समग्गरतो धम्मत्थो, योगक्खेमा न धंसति ॥
संघं समग्गं कत्वान, कप्पं सग्गम्हि मोदति ।

अर्थात्-संघ की सामग्रीं-संगठन सुखकारक है। संगठन में रहने वालों की सहायता करने वाला, धर्म में स्थिर रहने वाला और संगठन साधने वाला भिक्षु योग-क्षेम से च्युत नहीं होता और संघ का संगठन करके वह भिक्षु कल्प काल पर्यन्त स्वर्ग-सुख भोगता है।

संघभेद का दुष्परिणाम

एक धम्मो भिक्खवे ! लोके उपज्जमानो उपज्जति बहु जनाहिताय, बहुजनासुखाय, बहुनो जनस्स अनत्थाय, अहिताय' दुक्खाय देवमनुस्सानं, कतमो एक धम्मो ? संघभेदो। संघे खो पन भिक्खवे ! भिन्ने अञ्ञमञ्ञं भण्डनानि चेव होन्ति, अञ्ञमञ्ञं परिभासा च होन्ति, अञ्ञमञ्ञं परिक्खेपा च होन्ति, अञ्ञमञ्ञं परिच्चजना च होन्ति, तत्थ अप्पसन्ना चेव न प्पसीदन्ति, पसन्नानञ्च एकच्चानं अञ्ञथत्तं होतीति।

अर्थात्—'भिक्षुओ ! लोक में एक धर्म ऐसा है जिसे उत्पन्न करने से बहुत लोगोंका अकल्याण बहुत लोगोंका असुख और देव मनुष्य सहित बहुत लोगों को अनर्थ, अकल्याण और दुःख उत्पन्न होता है।

'वह कौनसा धर्म है ?'

'संघभेद'

'भिक्षुओ ! संघ मे फूट डालने से आपस मे कलह होता है, आपसमें गाली-गलौज होता है, आपसमे मिथ्या आक्षेप होते हैं। आपस में परितर्जना होती है। आपस में अप्रसन्न हुए लोग हिलते मिलते नही है और मिलजुले लोगों में भी अन्यथाभाव-असद्भाव पैदा होता है।

संघभेदक की दुर्गति

आपापिको नेरयिको, कप्पत्थो संघभेदको
वग्गारामो अधम्मत्थो योगक्खेमतो धंसति ॥
संघं समग्गं भित्वान कप्पं निरयम्हि पच्चतीति ।

अर्थात्—संघ मे फूट डालने वाला अधर्मी, कल्प वर्ष पर्यन्त नरक में निवास करता है, निर्वाण से विमुख होता है और संघ में फूट पैदा करके कल्पकाल तक नरक मे पचता है।

संघसंगठन के साधन

छहिमे भिक्खू धम्मा साराणीया पियकरणागरुकरणा संगहाय, अविवादाय, सामग्गिया एकीभावाय संवतन्ति। कतमे छ ?

(१) इध भिक्खवे ! भिक्खुनो मेत्तं कायकम्मं रहो च।

(२) इध भिक्खवे ! भिक्खुनो मेत्तं वचीकम्मं रहो च।

(३) इध भिक्खवे ! भिक्खुनो मेत्तं मनोकम्मं रहो च।

(४) भिक्खवे! भिक्खू ये ते लाभा धम्मिका धम्म-लद्धा अन्तमसो पत्तपरियापन्नमत्तंऽपि तथा रूपेहि लाभेहि अप्पटिविभक्तभोगी होति सीलवन्तेहि स ब्रह्मचारी हि साधारणभोगी।

(५) भिक्खवे! भिक्खू यानि यानि सीलानि अखण्डानि अच्छिद्दानि असबलानि अकम्मासानि भुजिस्सानि विञ्ञुप्पत्थानि अपरामट्ठानि समाधिसंवत्तनिकानि सीलेसु सीलसमन्नागतो विहरति सब्रह्मचारीहि आवी चेव रहो च।

(६) भिक्खवे! भिक्खू याऽयं दिट्ठि अरिया निय्यानिका निय्याति तक्करस्स सम्मादुक्खक्खयाय तथारूपाय दिट्ठियादिट्ठिसमन्नागतो विहरति सब्रह्मचारीहि आवी चेव रहो च।

अर्थात्—यह छः वस्तुएँ स्मरणीय, प्रेम बढ़ाने वाली और आदर बढ़ानेवाली हैं और वह संग्रह, अविवाद, सामग्री (एकता) और एकीकरण मे कारण हैं—

(१) प्रत्यक्ष और परोक्ष मे मैत्रीमय कायकर्म।

(२) प्रत्यक्ष और परोक्ष में मैत्रीमय वाचा-कर्म।

(३) प्रत्यक्ष और परोक्ष में मैत्रीमय मन कर्म।

(४) धर्मानुसार मिली हुई वस्तुओं का साधार्मिकों में बंट-वारा करके उनके साथ आप उपभोग करना।

(५) प्रत्यक्ष और परोक्ष मे अपना शीलाचार अखण्ड, अछिद्र अशबल, अकलुषित, भूजिष्य (स्वतन्त्र), सुज्ञप्रशस्त, अपरामृष्ट और समाजसंवर्तनिक रखना, और

(६) प्रत्यक्ष तथा परोक्ष में, जिस दृष्टि के द्वारा, सम्यक् प्रकार से दुःख का नाश होता है, उस आर्य नैर्याणिक दृष्टि से संपन्न होकर व्यवहार करना।

महात्मा बुद्ध ने संघ की व्यवस्था के लिए जिन साधनों का उपदेश दिया है, वे किसी भी सघ के लिए उपयोगी हो सकते हैं। हमरा संघ भी उनसे लाभ उठा सकता है। संघधर्म का पालन करने के लिए इन नियमों की ओर अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

—·०·—

परिशिष्ट ८

चारित्र-धर्म

बुद्ध का गृहस्थधर्म—दस शील धर्म

परिग्रह से युक्त गृहस्थ के लिए केवल भिक्षु धर्म के अनुसार वर्त्ताव करना शक्य नही है। श्रावक जिस वर्त्ताव से 'सज्जन' कहलाता है वह गृहस्थ का व्रत मैं कहता हूँ:—

उसे प्राणहानि नहीं करनी चाहिए और न करानी चाहिए। समस्त भूतों के प्रति, फिर चाहे वह स्थावर हो या जंगम हो, दंडबुद्धि का-शिक्षावृत्ति का त्याग करना चाहिए।

'तत्पश्चात् विवेकशील श्रावक को किसी भी वस्तु की चोरी करने वाले को उत्तेजन नहीं देना चाहिए; इस प्रकार संपूर्ण अदत्तादान का त्याग करना उचित है।

समझदार श्रावक को धधकते हुए, सुलगते हुए कोयलों की खाई के समान अब्रह्मचर्य का त्याग करना चाहिए; अगर ब्रह्मचर्य का पालन अशक्य हो तो कम से कम परदारागमन तो नही ही करना चाहिए।

'सभा में परिषद् में अथवा विना समूह के, जब दूसरे से बोले तब असत्य न बोले, दूसरे से असत्य न बुलवावे, और असत्य बोलने वाले को उत्तेजन न दे। इस प्रकार सब असत्य का त्याग करना चाहिए।'

'जो गृहस्थ बुद्ध का धर्म पाले वह मद्यपान न करे, दूसरे को मद्यपान न करावे और मद्यपान करने वाले को उत्तेजन न दे, मद्य को उन्मादकारक समझ कर छोड़ देना चाहिए।

क्योंकि मद्य के नशे में मूर्ख लोग पापाचरण करते हैं दूसरे लोगों को भी प्रमत्त बनाते हैं। पाप का अ , उन्मा-कारक, मोहकारक और मूर्खप्रिय इस कृत्य चाहिए।'

'प्राणघात न करना, चोरी न करना, असत्य भाषण न करना, मद्यप न होना, अब्रह्मचर्य और स्त्रीसंग से विरत होना और अकाल में अर्थात् रात्रि मे भोजन न करना।

'माला धारण न करना, चंदन न लगाना; सादे पाट पर या जमीन पर सोना, दुःख के पार पहुँचे हुए बुद्ध द्वारा प्रकाशित यह आठ उपोसथ* है, ऐसा कहते हैं।

और 'यह अष्टांग वाला, सुसंपन्न उपोसथ प्रति पखवाडे, चतुर्दशी, पूर्णिमा और अष्टमी के दिन तथा वर्षाऋतु मे प्रसन्न मन से पालना चाहिए।

तदनन्तर उपोसथ के दूसरे दिन, प्रभात में उस सुज्ञ पुरुष को प्रसन्न चित्त से भिक्षु संघ का अनुमोदन करके भिक्षुओं मे यथा-योग्य अन्न और पान बाँटना चाहिए।

धर्ममार्ग से माता-पिता का पालन करना और धार्मिक रीति से व्यापार करना चाहिए। अगर गृहस्थ सावधानी के साथ इस प्रकार वर्त्ते तो वह सद्गति पाता है।

सुत्तनिपात:-३९३—४०४.

—:o:—:o:—

*उपोसथ अर्थात् पौषध। भाषा और भाव की दृष्टि एक ही है।

धर्म और धर्मनायक

(उत्तरार्ध)

स्थविरधर्म—नायकधर्म

न तेन वयो सो होती येनस्स फलितं सिरो ।
परिपक्को वयो तस्स मोघजिण्णो त्ति वुच्चति ॥
यम्हि सच्चं च धम्मो च, अहिंसा संजमो दमो ।
स वे वन्तमलो धीरो सो थेरो त्ति पवुच्चति ॥

अर्थात्—सिर के बाल सफेद हो जाने से अथवा वयोवृद्ध (बूढ़ा) हो जाने से ही कोई 'स्थविर' नहीं कहलाता; क्योंकि वह अकाल-जीर्ण है। हाँ जिसके हृदय में अहिंसा, संयम, दम आदि का वास है, जो निर्मल-निर्दोष और धीर है वही सच्चा स्थविर-धर्मनायक कहलाता है।

धर्म और धर्मनायक

(उत्तरार्ध)

विषयप्रवेश

स्थविरधर्म

अनायका विनश्यन्ति, नश्यन्ति बहुनायकाः ।

जिस समूह का कोई नायक—नेता नहीं होता उसकी दुर्गति होती है और जिस के बहुत नायक होते है उस समूह की भी दुर्गति हो जाती है ।

प्रत्येक धर्म, समाज और राष्ट्र को नेता की परम आवश्यकता रहती है । नेता ही किसी समूह की शक्ति को पुंजीभूत करता है, नेता ही राष्ट्रीय या धार्मिक मत को अभिव्यक्त करता है और नेता ही राष्ट्रीय, सामाजिक या धार्मिक शक्ति को गति देता है और उसमें क्षमता उत्पन्न करता है ।

सच्चा नेता वह है जो धर्म, समाज और राष्ट्र का पथप्रदर्शक हो और उनके कार्यव्यापारों एवं विचारों का नियंत्रण करता है ।

ठीक-ठीक नेतृत्व के अभाव में राष्ट्र मे अव्यवस्था और अनियन्त्रितता आती है और इनके फलस्वरूप असफलता मिलती है। ससार के किसी भी राष्ट्र के इतिहास पर नजर डालो, स्पष्ट ज्ञात होगा कि आन्दोलनों की, चाहे वह धार्मिक हों, सामाजिक हों, राजनीतिक हों या सांस्कृतिक हों, सफलता सदैव उनके नेताओं के ऊपर निर्भर रही है-ऐसे नेताओं पर जो प्रजा का सहयोग प्राप्त करने मे समर्थ थे। इस सचाई का सबूत खोजने के लिए हमें राजनीतिविज्ञान या समाजशास्त्र के अर्थ मे गहरे उतरने की आवश्यकता नहीं है। विभिन्न राष्ट्रों के वर्त्तमान नायक ही इस सत्य के प्रत्यक्ष प्रमाण है।

प्रजा का नेता प्रजा का सेवक है। सेवक को कुछ दान नहीं चाहिए। सेवक को पूजा नही चाहिए। दान और पूजा की अपेक्षा रखकर की गई सेवा, सेवा नही-व्यवसाय है।

धार्मिकवृत्ति वाला अपने आपको धर्मात्मा कहलाने का विचार तक नहीं करता। उसके चरित्र मे दंभ का नामनिशान तक नहीं मिल सकता।

जिसने अपनी इन्द्रियाँ पूरी तरह वशीभूत कर ली हैं और जो शरीरयात्रा के निर्वाह के लिए ही इन्द्रियों का व्यापार करता है, जिसने सब विकारों को जीत लिया है, जिसने आत्मा को पहचान लिया है, वही धर्मात्मा है-धर्मनायक है।

जो पुरुष साधु-जीवन व्यतीत करता है, जिसकी वृत्तियाँ सादी हैं, जो सत्य की साक्षात् मूर्त्ति है, नम्र है, जो अहंभाव को पास नहीं फटकने देता, वह पुरुष वास्तव मे धर्मात्मा-धर्मपुरुष-धर्मनायक है। ऐसे धार्मिक पुरुषको शास्त्रकार 'स्थविर' कहते हैं। 'स्थविर' शब्द ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणो से सपन्न वृद्ध के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। पूर्वोक्त दस धर्मो की सुव्यवस्था के लिए शास्त्रकारों ने दस स्थविरों की योजना की है।

जैनशास्त्रों मे दस धर्मो का विधिवत् पालन कराने के लिए निम्नलिखित दस स्थविरों-धर्मनायकों का विधान किया गया है -

(१) ग्रामस्थविर　　(२) नगरस्थविर
(३) राष्ट्रस्थविर　　(४) प्रशास्तास्थविर
(५) कुलस्थविर　　(६) गणस्थविर
(७) संघस्थविर　　(८) जातिस्थविर
(९) सूत्रस्थविर　　(१०) संघस्थविर (पर्यायस्थविर)

इन दस-विधि स्थविरों की अलग-अलग संक्षिप्त व्याख्या यहाँ की जायगी।

१

ग्राम स्थविर --- ग्राम नायक

[गामथेरो]

भारतवर्ष का उद्धार उसके साढ़े सात लाख गाँवों को सजीव बनाने में है। यह छोटे-छोटे ग्राम भारतवर्ष की मूल संस्कृति के धाम हैं।

ग्रामस्थविर शब्द शास्त्रीय है। बोलचाल में उसे गाँव का मुखिया, गांव का पटेल या गांव का नेता कह सकते हैं। गांव के अन्दर जो दुर्व्यवस्था या अव्यवस्था चल रही हो उसे दूर करके उसके स्थान पर सुव्यवस्था स्थापित करना ग्रामनायक का मुख्य कर्त्तव्य है।

दुर्व्यवस्था क्या है और सुव्यवस्था क्या है? यह जान समझना साधारण मनुष्य के लिये सरल नहीं है। इसे [illegible] वही मनुष्य समझ सकता है जिसको इस सम्बन्ध का [illegible] हो और जिसे पूर्वोक्त दस धर्मों की सांकल [illegible]

पूरा ध्यान हो। दस धर्मो की श्रृङ्खला को ठीक तरह समझने वाला ही दुर्व्यवस्था और सुव्यवस्था का वास्तविक अन्तर समझ सकता है, क्योंकि प्रकृति के नियमों की सुन्दर से सुन्दर व्यवस्था करने वाला धर्म ही है। जहाँ धर्म नहीं वहाँ व्यवस्था नहीं। और जहाँ व्यवस्था नहीं वहाँ सुख-शांति नहीं। इसलिये ग्राम नगर या राष्ट्र मे सुख शांति स्थापित करने के लिये ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, आदि धर्मो का यथावत् क्रमबद्ध ज्ञान धर्मनायक को अवश्य होना चाहिये। जो मनुष्य एकांगी दृष्टि से धर्म का विचार करता है वह दुर्व्यवस्था और सुव्यवस्था का भेद नहीं समझ सकता। अतएव धर्मनायक को ग्राम मे सुव्यवस्था और सुख शांति स्थापित करने के लिए विवेक दृष्टि अवश्य प्राप्त करनी चाहिए।

ग्राम मे दुर्व्यवस्था उत्पन्न होने के कारण ग्राम पतन के पथ की ओर अग्रसर होता जाता है। गांव मे अगर सुव्यवस्था न हुई तो वहाँ चोरी होती है, व्यभिचार होता है, भुखमरी फैलती है और इस प्रकार ग्राम्यजीवन का पतन हो जाता है। यह एक ध्रुव सत्य है। अव्यवस्थित ग्राम मे सामान्यतया अनाचार का दौर होता ही है, तिस पर लोगों को अगर खाने के लिये अन्न और पहनने के लिये पर्याप्त वस्त्र न मिले तब तो अनाचार की सीमा नहीं रहती। अनाचार-अत्याचार रोकने के लिये और लोगों को सत्य तथा न्याय के पथ पर लाने के लिये एक ग्रामनायक-सुव्य-

व्यवस्थापक की आवश्यक्ता रहती है जो सब प्रकार की अव्य-वस्थाओं को दूर करके सुव्यवस्था स्थापित करे।

आज गांवों में स्थविर- ग्रामसेवक बहुत ही कम है। इस कारण ग्रामोद्धार का महत्वपूर्ण कार्य व्यवस्थित नहीं हो रहा है। ग्रामनायक अगर ग्रामोद्धार के कार्यों में अपनी सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग करें तो नगरोद्धार और राष्ट्रोद्धार होने मे विलम्ब न लगे। ग्राम का उद्धार करने मे ग्रामनायक का क्या स्थान है, यह बात बड़ी विस्तृत है। पर नीचे लिखे बौद्ध शास्त्रीय उदाहरण से उसका दिग्दर्शन अवश्य हो सकता है।

किसी गांव में मघा नामक एक ग्रामनायक रहता था। इस ग्रामनायक ने अपने चरित्रबल से, प्रजा के प्रेम से और अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से गांव भर मे ऐसी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी कि गांव के सब लोग उसकी वाणी को शास्त्र का विधान मान कर अङ्गीकार करते थे। कोई उसकी बातको उल्लंघन न करता था।

मघा ने गांव के लोगों से प्रतिज्ञा कराली थी। अपने गांव में रहने वाला कोई भी पुरुष मद्य-मास का सेवन नहीं करेगा, चोरी डकैती नहीं करेगा, अनाचार-अत्याचार नहीं करेगा। सब मिल जुल कर प्रेमपूर्वक रहेंगे। किसी के साथ कोई झगड़ा फसाद न करेगा।

मघा की वह आज्ञा ग्रामवासियों के लिये धार्मिक प्रतिज्ञा बन गई। सबने स्वेच्छा से उसे स्वीकार किया। की इस

सुव्यवस्था से उस गाँव में एक भी शराबी, चोर, जुआरी या कर्जदार न रहा। उसने गांव को इस ढंग से सुव्यवस्थित बनाया कि सभी लोग आनन्दपूर्वक निर्भय होकर रहने लगे और ग्राम्यजीवन का सच्चा आनन्द लूटने लगे। किसी को किसी का भय न था। सभी एक वृहत परिवार की भाँति, एक दूसरे के सुख दुःख के साथी बनकर रहते थे। न चोरी का डर, न डकैती का डर। द्वार पर ताला लगाने की भी आवश्यकता जाती रही। उस जीवन में सभी नर-नारी पूरी तरह संतुष्ट थे।

मघा की यह करामात देखकर ग्रामनिवासी उसे देवता की भांति पूजने लगे। मगर मघा अपनी प्रतिष्ठा से फूलता न था। वह निंदा स्तुति के धरातल से ऊपर उठ गया था। उसकी एक ही धुन थी-ग्रामोद्धार। उसी मे वह तन्मय रहता। ग्राम्य जीवन का अधिक से अधिक विकास करना उसके जीवन का एक मात्र लक्ष्य होगया था।

मघा कभी-कभी, फुर्सत का समय देख ग्रामनिवासियों को इकट्ठा करता, उनके बालकों को पढ़ानेकी सलाह देता, कभी व[ह] मद्य मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों के भक्षण की बुराइयों [का] और उनसे जीवन पर होने वाले दुष्परिणामों का चित्र खींच[ता] था। कभी बीड़ी-सिगरेट आदि मादक पदार्थों के सेवन [की] हानियाँ समझाता था। कभी वह अशिक्षा की भय करताका अ[...]

पादन करता या स्वार्थी लोग अशिक्षा से लाभ उठाकर एक के बदले इक्कीस किस प्रकार वसूल करते हैं यह समझाता। कभी कभी खेती करने का तरीका, खेती की रक्षाका उपाय, धान्य संग्रह की विधि आदि के विषय में विवेचन करता। कभी गाय-भैंस आदि पशुओं के पालन-पोषण आदि का प्रतिपादन करता था। इस प्रकार प्रत्येक संभव उपाय से वह ग्रामवासियों के अभ्युदय के लिए सचेष्ट रहता।

मघा कभी-कभी दोपहर में, जब स्त्रियों को विशेष कामकाज न होता, इकट्ठा करता और उन्हें 'स्त्रीधर्म' समझाता था। शिशुओं के पालन-पोषण के संबंध में अनेक बातें बतलाता था। घर की और पास-पड़ौस की सफाई की ओर उनका ध्यान आकर्षित करता था। वह स्त्रियों को अवकाश के समय चर्खा चलाने, भरने-गूंथने आदि घरू धन्धों की भी शिक्षा देता था।

कभी-किसी दिन मघा गांव के नवयुवकों की सभा करता। उन्हे यौवन-धनका मूल्य समझाता। जीवनमे यौवन-धन का स्थान क्या है और यह समय कितना नाजुक है! एक जरासा वासना का धक्का जीवन को किस प्रकार मिट्टी मे मिला सकता है? और किस प्रकार यौवनधन को संभालना आवश्यक है? इत्यादि प्रश्नों र विवेचन करता। नवयुवक चाहे तो देश की, समाजकी अ कितनी बहुमूल्य सेवा बजा सकते हैं, इस बातका हूबहू चि उपा के अनुरक्त आंगन में खड़े हुए नवयुवकों को

शक्ति का स्व-परविकास में किस प्रकार सदुपयोग करना चाहिए? इत्यादि बाते समझाते हुए, युवकों में नूतन प्राणों का संचार करता हुआ और यौवन की प्राणप्रतिष्ठा का संरक्षण करने के लिए युवकों को चेतावनी देता हुआ मघा, अपने कर्त्तव्यपालन मै संलग्न था।

मघा को नन्हें-नन्हे बालकों से बड़ा प्रेम था। कभी, अवसर पाकर वह बालकों को इकट्ठा करता। उन्हें खेलाता, उनसे खेलता उनकी सफाई करता, अक्षरज्ञान कराता और उनके योग्य अच्छी-अच्छी बातें उन्हें बतलाता। कभी उनके साथ हँसता-कूदता और बालकों को इतना हँसाता कि उनका पेट दुखने लगता।

अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा से मघा बालकों का, स्त्रियों, युवकों और बूढ़ों का-सभी का स्नेहभाजन बन गया। ग्रामनिवासी सभी उसे अपना मुखिया मानते और उसके इशारे पर नाचने को तैयार रहते थे।

कहने के बदले कर दिखाने पर मघा का विश्वास था। गली-कूचों मे कहीं कूड़ा-कचरा देखता तो चुपचाप उठाकर गांव-बाहर फैक आता। गन्दगी वाली जगह साफ़ कर डालता। कई बार स्त्रियाँ साफ़ की हुई जगह पर कूड़ा बिखेर देतीं, पर मघा की भौंहों पर बल न पड़ता। वह दोबारा सफाई करता। मघाका यह निस्वार्थ सेवाभाव देखकर उन्हें लज्जित होना पड़ता। फिर कभी वे ऐसा न करती और उल्टा मघा के काम में मददगार बन जातीं।

मघा की इस सुव्यवस्था से सारा गांव साफसुथरा और सुघड़ दिखाई देता था। गांव के लोग अपने गांव की स्वच्छता, सुघड़ता और सुव्यवस्था देखकर आनंदित होते थे। पर दुनियां में कौन-सी अच्छाई है जो किसी के लिए बुराई न बन जाय ? मघा की यह सत्प्रवृत्ति एक मदिराविक्रेता-कलार को और रौब गांठने की गुंजाइश कम होती देखकर कुछ राजकर्मचारियों को कांटे की तरह चुभने लगी। गांव मे न कोई शराबी बचा था, न फरियाद करने वाला। अतएव कलार और राज्यकर्मचारी अपनी आजीविका की चिन्ता मे पड़ गये। वे चाहते तो सीधा रास्ता पकड़ सकते थे पर अन्तस्तल में उभरती हुई ईर्षा के प्रभाव से उन्होंने वह रास्ता न पकड़ा।

राज्यकर्मचारियों ने मघा पर मिथ्या दोषारोपण करके मगधनरेश के सामने फरियाद की। राजा कानों के कच्चे होते हैं। उन्हें सुझा दिया गया था कि मघा जनता मे राज्यविरुद्ध उत्तेजना एवं विद्रोह की भावना भर रहा है। वह राज्यशासन में उथल-पुथल करना चाहता है। मघा राज्य का महान् शत्रु है और उसे सख्त शिक्षा मिलनी ही चाहिए। वर्ना राज्य खतरे मे पड़ जायगा।

मगधनरेश अपने कर्मचारियों के भुलावे में आ गये। उन्होंने मघा को और साथ ही उसके अनुयायियों को हाथी के पैर के नीचे कुचलवा डालने की भीषण व्यवस्था दे दी। मघा ने यह सुना; मगर उसका रोम भी न फड़का। मघा को सत्य और न्याय की अन्तिम विजय पर पूर्ण विश्वास था। वह सत्य का सहारा

लिये निश्चल खड़ा रहा। मगधनरेश ने मघा का व्यवहार देखा तो उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ। उन्होंने कहा-'मघा' तू क्या चाहता है? तुझे अपने प्राण प्यारे नहीं हैं? तू राजद्रोह का त्याग कर सुख-चैन से रहना नहीं चाहता?

मगधनरेश की इस बात से मघा जैसे नींद से जाग उठा। उसने अपने कार्यों पर निगाह डाली। उसे लगा-'मैंने राजद्रोह की बात तो कभी सोची तक नहीं है। फिर मुझ पर यह आरोप क्यों?' अन्त में मघा ने कहा-'महाराज, मैं जो प्रवृत्ति कर रहा हूँ, उसमें राजद्रोह की गंध तक नहीं है। मैं आपसे विना वेतन माँगे आप का ही काम कर रहा हूँ। अगर यह मेरा अपराध नहीं है तो मैं सर्वथा निरपराध हूँ। फिर भी अगर आप मुझे राजद्रोह का अपराधी मानते हैं तो आपकी आज्ञा सिर माथे है।'

मगधनरेश मघाकी बात से प्रभावित हुए। उनकी बात में एक प्रकार की निस्पृहता थी, उत्सर्ग था और औद्धत्य का अभाव था। नरेश फिर बोले-'मघा, बताओ सारे दिन तुम क्या करते हो?'

मघा ने अपनी दिनचर्या कह सुनाई। फिर उनके गांव वालों से पूछताछ की गई-प्रजाजनो! मघा की प्रवृत्ति से तुम्हें क्या हानि-लाभ हुआ है? क्या तुम साफ-साफ बता सकते हो?'

प्रजाजनों ने कहा-'अन्नदाता, मघा की सत्यप्रवृत्तियों के कारण गांव में शराबी, जुआरी या दुराचारी कोई नहीं रहा। बालक, जवान, स्त्रियाँ और वृद्ध सभी अच्छे रास्ते पर आ गये हैं

गाँव में सतजुग वर्त्त रहा है। मघा के व्यवहार से हम लोग सब सुखी और संतुष्ट हैं। सचमुच मघा हमारा नायक है। वह हमारे लिए देवता है।'

मघा के विषय मे प्रजाजनों की बात सुनकर मगधनरेश बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने कलार और फरियाद करने वाले राजकर्मचारी को बुलाया और पूछा-जिस मघा को तुम राजद्रोही कहते हो, उसी के विषय में प्रजाजनों का विचार एकदम दूसरा है। प्रजा उसे राज्यसुधारक और ग्रामनेता मानती है। कौन सच्चा है-तुम लोग या यह सब प्रजाजन ?

असत्य के पाँव उखड़ गये। प्रजा के सम्मिलित स्वर के आगे असत्य थर्राने लगा। अन्त मे कलार और राजकर्मचारी अपने स्वार्थ के लिए एक सच्चे ग्रामसेवक पर लगाये हुए मिथ्या आरोप के लिए क्षमायाचना करने लगे और मगधनरेश के समक्ष किए हुए अन्याय के लिए पश्चात्ताप करने लगे। मगधनरेश मघा की गंभीरता, सत्यप्रियता, सेवा भावना आदि गुणों को देख प्रसन्न हुए। अपने राज्य के ग्राम मे ऐसे निस्पृह ग्रामसेवक का वास देख गौरव अनुभव करने लगे। अन्त मे महाराज ने 'ग्रामनायक' का पद देकर मघा का सन्मान किया।

सच्चे ग्रामसेवक कैसे होते है ? उन पर ग्रामोद्धार की कितनी जवाबदारी रहती है ? परीक्षा के प्रसंग पर कितनी अधिक निश्चलता एवं धैर्य तथा क्षमता का परिचय देना पड़ता है ?

इत्यादि अनेक बातें ग्रामनायक मघा के चरित्र से स्वयं प्रकट हो जाती हैं।

सच्चा ग्रामसेवक अन्याय से डरता नहीं है। सत्य और न्याय पर उसकी अविचल श्रद्धा होती है। आने वाली परेशानियों पर विजय पाना उसका कौतुक है। मघा की निश्चलता ने सजा के बदले सन्मान पाया। उसने भूले भटके लोगों को सुमार्ग दिखाया।

खेद है, आज गांवों में मघा-सा ग्रामनायक खोजने पर भी कहीं दिखाई नहीं देता। आज एक-एक मनुष्य अपने आप में व्यस्त है। आत्मीयता का भाव अत्यन्त ही क्षुद्र दायरे में सीमित हो गया है। इसी कारण ग्रामों की व्यवस्था बिगड़ी हुई है। ग्रामों मे सच्चे सेवकों का अभाव होने से ही वहां दुर्व्यसनों का दौरा चल रहा है, घोर अज्ञान फैला है, जड़ता का वास है, गंदगी का राज्य है, दीनता और बेवसी का नाच हो रहा है, मुकदमेबाजी का बाजार गरम है और इस प्रकार सारा का सारा ग्राम्यजीवन अस्तव्यस्त हो रहा है।

जिस ग्राम का नायक बुद्धिमान् होता है, वहां के लोगों को दुष्काल पड़ने पर भी कठिनाई नहीं भोगनी पड़ती; क्योंकि ग्राम-नायक अपनी दीर्घ दृष्टि से भविष्य का विचार करके धान्य का संग्रह करा रखता है। दुष्काल के अवसर पर उसका उपयोग करके कठिनाई से बचा जा सकता है।

ग्रामनायकों के अभाव में, आज ग्रामीण जनता का जीवन-धन-माल अज्ञान और दुर्व्यवस्था के कारण लुट रहा है। सच्चा ग्रामनायक ग्रामवासियों के पालन-पोषण के वैज्ञानिक उपायों पर अमल करके उनके संरक्षण और संवर्द्धन की तमाम व्यवस्था करता है।

अगर आज कोई ग्रामनायक आगे आवे और ग्रामीण जनता उसकी कार्यप्रणाली में सहयोग दे तो भारतवर्ष का अस्तगत ज्ञानसूर्य फिर उदित हुए बिना नहीं रह सकता।

जब तक मानव-समाज का जीवन अन्न और वस्त्र पर अवलंबित है तब तक ग्रामधर्म को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिये बिना छुटकारा नहीं। और यदि अन्न-वस्त्र के बिना मानवजीवन कदापि नहीं टिक सकता तो ग्रामधर्म की उपेक्षा भी कदापि नहीं की जा सकती। ग्रामधर्म के प्रति उपेक्षा करने का अर्थ है मानव-जीवन के प्रति उपेक्षा करना।

भारतवर्ष में ऐसे ग्राम मौजूद हैं जो अपनी ही उपज में से उपर्युक्त दोनों आवश्यकताओं को पूर्ण कर सकते हैं। ग्राम में उत्पन्न होने वाला अन्न ग्रामजनता की तमाम खाद्य वस्तुओं की आवश्यकता पूरी कर सकता है। रह जाती है सिर्फ वस्त्र की बात। सो प्राचीन काल में प्रत्येक गांव में वस्त्र तैयार किये जाते थे। कोई गाँव ऐसा न था जहाँ वस्त्र न बनाये जाते हों। यह सब आज भी किया जा सकता है। इस प्रकार अगर प्रत्येक ग्राम अपने लिये खाने को अन्न और पहनने को कपड़ा

तैयार करले तो दूसरों का मुंह ताकने की क्या आवश्यकता है ? ग्राम्यजनता दीनतापूर्वक क्यों किसी चीज के लिए दूसरों के आगे हाथ पसारे ? अपने लिए जो वास्तव में आवश्यक है वह आप ही उत्पन्न कर ले और जितना उत्पन्न करले उतने ही से काम चला ले-बाहर से मंगाने की अपेक्षा न रक्खे तो उसमें आत्मनिर्भरता का तेज उदित होगा। ग्रामनायक के बिना, यह सब बातें ग्रामीण जनता को कौन समझाए ?

बहुत देर से ही सही, पर अब हम लोग गांवों की उपयोगिता समझने लगे हैं। शहरों की समृद्धि और चकाचौंध पैदा करने वाला वैभव देखकर; घडी भर के लिए हम आश्चर्यचकित भले बन जावे, पर दिनों दिन दरिद्र बनते जाने वाले गांवों की दर्द-नाक कहानियां जब हमारे कानों से टकराती है तब हमारी सभ्यता का मोह कपूर की तरह उड़ जाता है, अभिमान गल जाता है। हमें लगता है — अगर गांव नष्ट हुए-ग्रामधर्म और ग्रामनायकके अभावमें गांव वीरान बन गये तो समृद्धिशाली नगरों का प्राण और तेज दूसरी ही घड़ी उड़ जायगा। इसमें संदेह के लिए अवकाश ही नही है।

ग्राम मूल है और नगर उसके फूल-पत्तों के समान है। जब मूल मे सड़न आरंभ होती है तब वह मूलमें ही परिसमाप्त नहीं हो जाती। उसका प्रभाव फुनगी तक पहुंचे बिना नहीं रहता। इस सत्य को समझने के लिए अनुभव ने हमें बाध्य किया है;

फिर भी हमारी मोहनिद्रा अब तक भी पूरी तरह भंग नहीं हुई। इसी कारण राष्ट्र के सूत्रधार ढोल बजा कर कहते हैं—

'सच्चा हिन्दुस्तान गाँवों मे वसता है। शहर तो माया मात्र हैं। गांवों की सेवा ही हिन्दुस्तान के पुनरुद्धार की भूमिका है।

ग्रामोद्धार की यह बात भले ही समझ मे आ गई हो फिर भी अभी तक हमारे हृदयों के तारों मे सहानुभूति की झनझनाहट उत्पन्न नहीं हुई। इस अभागे सत्य को अस्वीकार करने से क्या लाभ है ?

कोई सच्चा ग्रामनायक, ग्रामधर्म का मर्म जब हमें समझाएगा और समझे हुए धर्म को जब हम जीवन में परिणत करेंगे तब भारतवर्ष उन्नति के शिखर पर विराजमान होगा।

भारतवर्ष में जब सच्चे ग्रामनायक थे तब ग्रामधर्म समस्त धर्मों का संचालन करता था। अर्थात् ग्रामधर्म ही नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि का पोषण और वर्धन करता था।

लगभग दो हजार वर्ष पहले की बात है। सम्राट् चन्द्रगुप्त के दरबार में ग्रीस देश का राजदूत मेगस्थिनीज आया था। उसने भारतवर्ष के धर्म के संबंध में अपने कुछ वर्ष के अनुभव बतलाते हुए लिखा है—

भारतवर्ष में धर्म की ऐसी सुन्दर व्यवस्था है कि भारतीय लोग अपने मकान में ताला भी नही लगाते। न वे असत्य भाषण करते हैं, न मायाचार का सेवन करते है।'

भारतवर्ष, आज भी वही भूमि है, जिसका प्रत्येक परदेशी ने मुक्तकंठ से गुणगान किया है।

इस पुण्यमयी भारत भूमि को ग्रामधर्म के पालन द्वारा फिर से उन्नत बनाने का उत्तरदायित्व उसकी सतान पर आ पड़ा है।

ऊपर जिस ग्राम्य-व्यवस्था का उल्लेख किया गया है, वह जिस दिन भारत मे, उसके ग्रामनायकों द्वारा प्रचलित की जायगी उसी दिन भारत में फिर से आनन्द-मंगल हो रहा चहुं ओर फैल जायगी और शान्ति का साम्राज्य स्थापित होगा। भारतवर्ष के शुभचिन्तकों का यही मन्तव्य है।

७

नगरस्थविर--नगरनायक

[नगरथेरा]

नगर-स्थविर के नगरोद्धार के कार्य मे नागरिक जन अगर सहृदय सहयोग प्रदान करे तो सच्ची नागरिकता का, जो मानव-जीवन को विकसित करने के लिए आवश्यक है, विकास हो सकता है। नागरिकता धर्मसंस्कृति का पोषण करती है।

जो विशिष्ट पुरुष नगर की आन्तरिक तथा बाह्य सुव्यवस्था करता है वह नगरस्थविर या नगरनायक कहलाता है।

ग्रामस्थविर और नगरस्थविर में इतना अन्तर है कि ग्राम-स्थविर ग्राम की अर्थात् छोटे-से जनसमूह की व्यवस्था करता है, जब कि नगरस्थविर नगर की अर्थात् बड़े जनसमूह की व्यवस्था करता है।

प्रत्येक व्यक्ति अपनी अधिकारमर्यादा के
आरम्भ करता है और उसे पार उतारता है।
का उल्लंघन करने वाला कार्य में सफलता नहीं

ग्रामस्थविर ग्राम की अधिकारमर्यादा में रहता हुआ ग्राम के अभ्युदय के लिए कार्य करता है। ग्रामस्थविर अगर ग्राम के अभ्युदयका कार्य आरम्भ करके नगरका उद्धार करने चल पड़े तो वह दोनोंमें से एकभी कार्य सम्पन्न न कर सकेगा अतएव यह आवश्यक है कि ग्राम्यस्थविर अपनी ही मर्यादा में रहकर ग्राम-सुधार का कार्य करे और नगर-स्थविर नगर की सुव्यवस्था की ही ओर ध्यान दे। बडे जन-समूह की व्यवस्था नागरिक ही कर सकते हैं, ग्राम्यजनों द्वारा नागरिकों का नियंत्रण नहीं किया जा सकता।

नगरस्थविर राज्य और प्रजा के बीच का प्रधान पुरुष होता है। राज्य से प्रजा को और प्रजा से राज्य को किसी प्रकार की हानि न पहुंचने देने की जिम्मेदारी नगरस्थविर की है। इस जिम्मेवरी को भलीभाँति निभाने वाला पुरुष ही नगरस्थविर के पद की शोभा बढ़ा सकता है।

नगर-प्रजा की शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, व्यापारिक, सामाजिक और धार्मिक स्थिति सुधारने में जो भी बाधक कारण हों, उन्हे दूर करके विकास के साधन पूरी तरह प्रस्तुत करना नगर-नायक का प्रधान कर्त्तव्य है।

नगर-जनों की शारीरिक स्थिति सुधारने के लिए जगह-जगह व्यायामशालाएँ स्थापित करना, स्वास्थ्य और स्वच्छता के नियमों का पालन कराना, प्राकृतिक आवश्यकताओं के लिए योग्य व्यवस्था करना, घर-घर पानी पहुंचाने का समुचित प्रबंध करना, नहाने और धोने की अलग-अलग व्यवस्था करना, इत्या-

दि शारीरिक स्थिति सुधार संबंधी प्रबंध करना नगरनायक का कर्त्तव्य होता है।

नागरिकों की वाचनिक उन्नतिके लिये सभागृह स्थापित करना, सभागृहों में विद्वान् वक्ताओं के भाषणों की व्यवस्था करना, बालक, नवयुवक, बालिकाएँ और कुमारिकाएँ जिनमें स्वतन्त्रता-पूर्वक भाग ले सकें ऐसे समारम्भों की व्यवस्था करना भी नगरनायक का कर्तव्य है।

नगरनिवासियों के मानसिक एवं बौद्धिक विकास के लिये बालशाला, कुमारशाला, किशोरशाला, प्राथमिकशाला, माध्यमिक शाला, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय, आदि यथावश्यक शिक्षा संस्थाएँ स्थापित करना भी नगर-नायक का कर्तव्य है। उसे यह ध्यान रखना चाहिये कि इन संस्थाओं में केवल तोतारटन्त न हो। वहाँ जो भी शिक्षा दी जाय वह हृदय स्पर्शी हो, जीवन में ओत-प्रोत हो जाय। साथ ही संस्कृति के साथ उसका पूर्ण सामंजस्य हो। वह परमुखापेक्षी न बनादे। मनुष्य को स्वावलम्बी बनाने वाली शिक्षा की ओर खूब ध्यान दिया जाय। इसके लिये उद्योग और कला कौशल सिखाने की व्यवस्था की जा सकती है। इस प्रकार शिक्षण की समुचित व्यवस्था करके नागरिक जीवन को विकसित करने का प्रयत्न करना भी नगरनायक का कर्तव्य है।

अगर कोई नागरिक अर्थसंकट के कारण दुःखमय प्रतीत करता है और उसकी सर्जन-शक्ति किसी भी

मैं अपना कर्त्तव्य भलीभांति अदा न कर सकूंगा। अतएव मैं अगर जागीर स्वीकार नहीं कर सकता तो मुझे क्षमा प्रदान कीजिए।

महाराणा स्वरूपसिंह नगरसेठ का प्रजा-प्रेम देख अत्यन्त आनन्दित हुए। उस दिन से वे सेठजी को सच्चा नगरसेवक और राज्यभक्त पुरुष मानने लगे।

महाराणा स्वरूपसिंह के बाद संवत् १६२० मे महाराणा शंभुसिंहजी गद्दी पर बैठे। उनके समय में राज्यभार एजेण्ट के हाथ में था। राज्यव्यवस्था ठीक न होनेके कारण प्रजाको बहुतसी तकलीफे सहनी पड़ती थीं। प्रजा दुःख सहते-सहते उकता गई थी। अन्त में प्रजा नगरसेठ चम्पालालजी के पास आई और तकलीफे दूर करने के लिए आवश्यक कदम उठाने की प्रेरणा करने लगी। नगरसेठ महाराणा के पास पहुंचे और प्रजा का कष्ट निवारण करने की प्रार्थना की। महाराणा ने उत्तर मे एजेण्ट के पास जाकर सारी बात कहने का आदेश दिया। नगरसेठ पंचों को साथ लेकर एजेण्ट के बंगले पर जाने को तयार हुए। पर वहां कुछ स्वार्थी लोगों ने एजेण्टके कान भर दिये—कहा, साहब, प्रजा सगठन करके आपके ऊपर हमला करने चढ़ी आ रही है।

एजेण्ट ने अपने कर्मचारियों की बात सुनी तो आग-बबूला होगया। उसने अपनी रक्षा के लिए तोपखाना तैयार करने का हुक्म दिया। इधर नगरजनों ने तोपखाना तैयार कराने का समाचार सुना तो वे भी घबड़ाहट में पड़ गये। उन्होंने नगर में संपूर्ण हड़ताल

करदी। नागरिक लोग उदयपुर की 'सहेलियों की बाड़ी'* मे जमा हुए। नगर सेठ ने सबको शान्त और संगठित रहकर स्थिति का मुकाबिला करने की सलाह दी। सभी ने एक स्वर से नगरसेठ की सलाह स्वीकार की।

उन्हीं दिनों उदयपुर नगर मे एक ढौल मर गया। मरे ढौल को उठा लेजाने के लिए ढेड़ लोगों को बुलाया। पर उन्होंने साफ उत्तर दिया—कि नगरसेठ की आज्ञा विना हम लोग हर्गिज़ काम न करेंगे। राज्यकर्मचारी किंकर्त्तव्यविमूढ हो रहे। कर्मचारी नगरसेठ के पास पहुंचे और मरे ढौल को उठा ले जाने की, ढेड़ लोगों को आज्ञा देने को कहा। नगरसेठ उदारचित्त थे। वे पिघल गये। उनकी आज्ञा पाकर मरे ढौल को उठाया और बाहर ले गये। नगरसेठ का समस्त प्रजा पर पूरा २ प्रभाव था। नगरजन खूब संगठित थे। उधर एजेण्ट साहब अपने निश्चय पर दृढ़ रहे, इधर नगरसेठ अपने निश्चय पर सुदृढ़ रहे। कोई किसी के सामने झुकने को तैयार न हुआ। एजेण्ट का दुराग्रह देख नगरसेठ मोटे गॉव (गोगुन्दा) नामक गाँव में चले गये। नगरसेठ का नगर छोड़ जाना साधारण बात न थी। एजेण्ट को यह मालूम हुआ।

* उदयपुर में 'सहेलियों की बाड़ी' नामक एक सुन्दर उद्यान है उदयपुर का सौन्दर्य बढ़ाने में इस उद्यान का भी बड़ा भाग है समय महारानी अपनी सखी—सहेलियों के साथ वायुसेवन के उद्यान में आया करती थीं। इसी से उसका उक्त ना होगया है।

उसे यह भी मालूम हुआ कि नगरसेठ के पीछे और प्रतिष्ठित लोग भी हिजरत कर जाएँगे। अतएव एजेण्ट कुछ नम्र हुआ। नगरसेठ को अपने पास बुलवाया और नगर छोड़ने का कारण पूछा। नगरसेठ ने नागरिक प्रजा की कष्ट-कथा कह सुनाई। एजेण्ट साहब ने शान्त चित्त से नगर सेठ की बातें सुनीं। अन्त में उसने प्रजा का कष्ट निवारण करने का आश्वासन दिया और नगरसेठ को नगर न छोड़ने का आग्रह किया।

सेठ चम्पालालजी और सेठ प्रेमचन्दजी सच्चे दिल से प्रजा की भलाई चाहते थे। इसलिए प्रजा भी उन्हें अपना हितैषी प्रतिनिधि मानती थी। सच्चा नगरपति अपनी सुख-सुविधाओंको लात मार कर प्रजाके कष्टनिवारण करनेका उद्योग करता है। प्रजा का सुख-दुख ही उसका सुख-दुख होता है। वह अपना अस्तित्व प्रजा के अस्तित्व में समाविष्ट कर लेता है। सेठ चम्पालालजी और प्रेमचन्दजी ऐसे ही नगरपति थे। इसी कारण प्रजा उनके आदेश को ईश्वरी आदेश की तरह मान्य समझती थी।

ऊपर हम देख चुके हैं कि नगरजनों के हित के लिए नगरस्थविर को अपना कितना समय और कितनी शक्ति का त्याग करना पड़ता है ?

जिस नगर में ऐसे प्रजावत्सल और सत्याग्रहशील नगरस्थविर बसते हैं उस नगर में अत्याचार, अनाचार, लूटमार, चोरी, डकैती आदि बुराइयाँ नहीं घुस पातीं। वहाँ सदाचार, स्नेह, सद्भाव, संगठन आदि सद्गुणों की हवा चहुँ ओर बहती है।

नगरस्थविर का पद राजा की अपेक्षा भी अधिक महत्व का है। राजा अपनी सत्ता के बल से प्रजा पर शासन करता है, पर नगरस्थविर शुद्ध प्रेमभाव से प्रजा पर पूरा काबू रखता है। और यह कौन नहीं जानता कि प्रेम के प्रभाव के आगे सत्ता का उन्माद निरर्थक साबित होता है। राजा कितना ही बलवान क्यों न हों; नगरस्थविरों के प्रेमभाव के आगे उसे झुकना ही पड़ता है, क्योंकि उसमें प्रजा की सगठित शक्ति केन्द्रित होती है।

नगरस्थविर राजा और प्रजा के बीच का प्रतिनिधि है। नगर-पति राजा का गुलाम नहीं है और प्रजा का अधभक्त भी नहीं है। वह सत्य और न्याय का उपासक है। राजा अन्याय करता हो तो उसे रोकना और प्रजा निष्कारण राजद्रोह करती हो तो उसे समझा कर शान्त करना, यह नगरस्थविर का कार्य है। राजा और प्रजा-दोनों के प्रति नगरस्थविर का इतना अधिक सद्भाव होता है, मानों वह इनका दास है; फिर भी वह सब का स्वामी है। इस प्रकार नगरनायक प्रजा का सेवक है और सच्चा सेवक होने के कारण सेव्य भी है।

कोई भी राज्य केवल अधिकार के बल से नहीं निभ सकता। राज्य की दृढ़ता प्रजा के सहयोग पर निर्भर करती है। ग्रामस्थविर और नगरस्थविर राजा और प्रजा के बीच स्नेहसंबन्ध स्थापित करता है और इसलिए उसीपर नगर एवं ग्राम की सुख-शान्ति अवलंबित है।

गिरता है और सूझता मनुष्य उसे बचाता नहीं । सचाई यह है कि आज अधिकांश मनुष्यों में 'मनुष्यता' रह ही नहीं गई है। 'हमें क्या ? इस प्रकार का उपेक्षाभाव सच्चे मनुष्य के हृदय में उत्पन्न ही नहीं हो सकता। परस्पर सहयोग करना, एक दूसरे की सहायता करना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है। जो मनुष्य जिस ग्राम या जिस नगर मे निवास करता है वह उस ग्राम या नगर के सुख-दुख की यदि चिन्ता नहीं करता और केवल स्वार्थ में ही लिप्त रहता है और 'हमें किसी से क्या' सोचकर दूसरों के प्रति उपेक्षा भाव रखता है तो कहना होगा कि उसे उस नगर या ग्राम में रहने का अधिकार ही नहीं है।

निस्वार्थ बुद्धि से, पवित्र कर्त्तव्य की आन्तरिक प्रेरणा से, अपने पड़ौसी की विपदा मे भाग लेना नागरिकता का आभूषण है; मगर जिसकी नागरिकता का इतना विकास नहीं हुआ उसे भी कम से कम इतना विचार तो करना ही चाहिए कि जो आपदा-विपदा आज मेरे पड़ौसी नगरनिवासी पर आ पड़ी है वही कल मेरे ऊपर भी आ सकती है। कौन जानता है, भविष्य के गर्भ में क्या-क्या छिपा है ? अगर आज मैं दूसरों का मददगार नहीं बनता तो कल मेरी मदद कौन करेगा ? अतएव बुद्धिमान पुरुष को पहले ही सावधान होना चाहिए। कम से कम इसी विचार नागरिक को अपने दूसरे नागरिक भाई की विपत्ति के सहायता करनी चाहिए। ऐसा करने से ही नागरिकता की रक्षा की जा सकती है।

मगर नागरिक की अपेक्षा नगरपति का उत्तरदायित्व बहुत बड़ा है। नगरपति का गौरवमय विरुद्ध वही प्राप्त कर सकता है जो नगर के उद्धार के लिए ही अपना जीवन दे डालता है, जो समस्त नगर में अपना व्यक्तित्व बिखेर देता है, जो नागरिकों के सुख-दुख को ही अपना सुख-दुख समझता है और नागरिकों के स्वास्थ्य शिक्षण आदि के लिए सदा निरन्तर-उद्योगशील रहता है। विज्ञापनबाजी का सहारा लेकर, लोगों को भुलावे मे डालकर नगरपति बन जाना आसान है पर उस पद को आत्मोत्सर्ग करके निभाना-उसकी प्रतिष्ठा की रक्षा करना बहुत कठिन है। यही कारण हे कि नगरपति या 'मेयर' या 'सिटी फादर' (नगरपिता) बनने के लिए लोग आकाश पाताल एक कर देते है, पर जब कर्त्तव्य का बोझ सिर पर आ पड़ता है तब झूठे बहाने बनाकर किनारा काट जाते हैं। ऐसे लोग अपने स्वार्थीपन और कृतघ्नता का परिचय देते है।

सच्चा स्वार्थ त्यागी पुरुप नगर के उद्धार के लिए तन, मन, धन का सहर्ष समर्पण कर सकता है। वही नगरस्थविर पद का वास्तविक अधिकारी है। जो कीर्त्तिलोलुप है, जो अपनी वाक्यपटुता और बाह्य आडंबर द्वारा नगर-नि..सियों को भ्रम में डालकर ठगता है, वह नागरिक की हैसियत से भी नगर मे रहने का अधिकारी नहीं है। फिर नगरस्थविरका गौरवमय पद तो प्राप्त ही कैसे कर सकता है? निम्नलिखित शास्त्रीय दृष्टान्त से यह बात भलीभाँति समझी जा सकती है

उपासकदशांग नामक सूत्र में एक सच्चे नगरस्थविर का वर्णन मिलता है। इसका नाम आनन्द गाथापति था। आनन्द गाथापति का वर्णन निम्नलिखित शब्दों मे किया गया है—

से णं आनंदे गाहावई बहूणं राईसर जाव सत्थवाहाणं बहुसु कज्जेसु य करणेसु य मंतेसु य कुडुम्बेसु य गुज्झेसु य रहस्सेसु य निच्छएसु य ववहारेसु य आपुच्छणिज्जे, पडिपुच्छणिज्जे, सयस्सवि य णं कुडुंबस्स मेढी, पमाणं, आहारे, आलम्बणं, चक्खू, मेढीभूए जाव सव्वकज्जवड्ढावए यावि होत्था।

—उपासकदसांग सूत्र प्र० अ०

अर्थात्—आनन्द गाथापति बड़े-बड़े राजाओं से लेकर सामान्य सार्थवाहों के महत्वपूर्ण कार्यों मे, कारणों मे, सलाह करने में, मंत्रणा करने मे तथा कुटुम्ब संबन्धी गुप्त कार्यों मे, विचारविनिमय करने मे एकवार और बारम्बार पूछने योग्य था। आनन्द गाथापति अनेक कुटुम्बों का पोषक, आधार, आलंब, चक्षु और कोल्हू के बीच क स्तंभ के समान मुख्य था। आनन्द श्रावक नगर की प्रत्येक प्रवृत्ति में अग्रस्थान भोगता था।

यहाँ शास्त्रकार ने आनन्द गाथापति को जिन मेढीभ
णभूत, आधारभूत, आलम्बनभूत, चक्षुभूत आदि
सराहा है वह विशेषण एक सच्चे नगरपति की शोभा

है। नगरपति को किस प्रकार नागरिकों की रक्षा करनी चाहिए किस प्रकार नागरिकों का विश्वास प्राप्त करना चाहिए, यह बात इन शब्दों से स्पष्ट हो जाती है।

मेढ़ी उस स्तंभ को कहते हैं जिसके आसपास-चारों ओर बैल चक्कर लगाते हैं। समस्त नगरनिवासी आनन्द के सहारे-ही अपनी प्रवृत्ति करते थे। वह समस्तनगर का प्रधान पुरुष-था। वह नगरनिवासियों को अपना कुटुम्बी मानकर पालता और उनके सुख का सच्चा मार्ग बतलाता था।

आनन्द गाथापति 'प्रमाणभूत' था-अर्थात् वह अपने प्रामाणिक जीवन के आदर्श से दूसरों को प्रामाणिक बनाता था। जीवन अप्रामाणिक प्रवृत्ति से किस प्रकार विषाक्त और प्रामाणिक प्रवृत्ति से कितना सुखमय बन जाता है, यह बात वह नागरिकों को समझाता था और सुख के मार्ग पर चलने की प्रेरणा करता था। जो स्वयं प्रामाणिक है वही दूसरों को प्रामाणिक बना सकता है। अतएव आनन्द गाथापति सच्चा आदर्श एवं प्रामाणिक पुरुष था।

आनन्द गाथापति 'आधारभूत' था। अर्थात् जैसे राजा नगर का मुख्य आधार होता है उसी प्रकार आनन्द गाथापति भी नगर-निवासियों का रक्षक होने के कारण आधार भूत था। अथवा आनन्द गाथापति आहारभूत था—गरीब नागरिकों को अन्न दान देकर अपने भाइयों की सेवा बजाता था। जैसे अन्न

दिन के तरह-तरह अत्याचार-अनाचार, चोरी, व्यभिचार आदि दुष्कर्म प्रचुर परिमाण में पाये जाते है। इससे नगर निवासियों को अनेक प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते है। यह 'मेयर' या म्युनिसिपल कमिश्नर इन कुप्रवृत्तियों को बन्द करने की कुछ भी चेष्टा नहीं करते और उनका कार्य-क्षेत्र प्राय इतना संकुचित होता है कि वे ऐसी प्रवृत्तियों को रोकने के लिए हस्तक्षेप भी नही कर सकते। इनका मुख्य कार्य नगर को स्वच्छ रखना है, मगर वह भी पूरी तरह उनसे नहीं होता और आज कल के नगरों में मलेरिया, प्लेग आदि भयंकर रोग घर बनाये रहते है।

आज के अधिकांश नगरस्थविर अपनी प्रतिष्ठा-वृद्धि के लिए ही इस पद पर चिपटे रहते हैं। उनमे सच्ची सेवा-भावना का अभाव होता है। यही कारण है कि आज नगर-धर्म लुप्तप्राय हो रहा है और नागरिकों का जीवन विकृत बन गया है।

ग्राम-नायक की अपेक्षा नगरनायक का उत्तरदायित्व अधिक है, क्योंकि नगर राष्ट्रदेह का मस्तिष्क है। जब कि ग्राम हाथ-पैर के समान हैं। मस्तिष्क का प्रभाव समूचे शरीर पर पड़े विना नहीं रहता।

किसी प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथ में, 'संथागार' मे, जिसे आजकल अंग्रेजी भाषा में Town hall-टाउन हाल कहते हैं, होने वाली संघ की सभाओं का स्वतन्त्रता पूर्वक निर्भयता के साथ, परन्तु संयम और विवेक से परिपूर्ण होने वाली चर्चाओं का और उसमें सम्मिलित होने वाले नागरिकों के उल्लास का

वृत्तांत पढ़ो तो विश्वास हुए विना न रहेगा कि उस युग में, जिसे साधारणतया जैनयुग कहा जाता है, नगरधर्म अपनी अंतिम कोटि तक पहुँच गया था। प्राचीन ग्रन्थों मे इस संबन्ध के बिखरे उल्लेख जहाँ तहाँ मिलते हैं।

धर्म या आत्महित के अर्थ सर्वस्व का उत्सर्ग करना अपने सहित्य और इतिहास का प्रधान स्वर है ही, मगर सच्चे नागरिक की हैसियत से अपने कर्त्तव्य का पालन करने मे हमारे पूर्वजों ने जो बलिदान किये है उनकी किसी भी समुन्नत, सुसंस्कृत और स्वतन्त्र देश के साथ साभिमान तुलना की जा सकती है। यह ग्रामधर्म और नगरधर्म कब शिथिल हुए और किस प्रकार अंत मे वे शास्त्रों के पृष्ठों पर ही सुशोभित रह गये, यह हमें नहीं मालूम, मगर सच्चा नगरधर्म क्या है और नगरधर्म की रक्षा के लिए नगरनायक को कितना त्याग करना पड़ता है, यह बात आज भी हम जानते है और नीचे लिखे उदाहरण से वह स्पष्ट हो जाती है।

वैशाली नगरी में महामाहन नामक नगरनायक था। वह राजा और प्रजा दोनों का प्रेम-पात्र था। महामाहन, राजा और प्रजा के पारस्परिक स्नेहबन्धन को सदैव मजबूत रखने का प्रयत्न करता था। उसके नेतृत्व में वैशाली की प्रजा आनन्दपूर्वक रहती थी। उसकी कार्यप्रणाली से सभी को संतोष था। वह नगरनायक के उत्तरदायित्व को भलीभाँति जानता था। नगरधर्म उसके लिए अपने प्राणों से भी अधिक मूल्यवान था। वह नगरधर्म

की रक्षा में अपनी और प्रजा की रक्षा मानता और नगरधर्म के विनाश में अपना और प्रजा का विनाश समझता था। एक बार उसकी कसौटी का दिन आ पहुँचा।

महामाहन के नगर पर किसी दुश्मन ने चढ़ाई की। उसने नगर की स्त्रियों को, बालकों को और बूढ़ों को क्रूरता के साथ सताना आरम्भ किया। महामाहन उस समय वृद्धावस्था में था। वृद्धावस्था के कारण उसका हाड-पिंजर शरीर जीर्ण-शीर्ण हो गया था। पाँच कदम चलने की भी शक्ति उसमें न रह गई थी। इस प्रकार का वृद्ध महामाहन नगर-स्थविर की हैसियत से अपने जीवन का अन्तिम कर्त्तव्य बजाने आगे आया। उसकी आत्मा तिलमिला उठी। वह बिस्तर पर पड़ा न रह सका। किसी प्रकार धीरे-धीरे चलकर वह दुश्मनों के बीच आया और ललकार कर बोला-'सावधान! छल-कपट से तुम्हें यह सफलता मिल गई है। नगर में लूट मचाने से तुम्हें कोई रोक नहीं सकता, मगर इस नगर की एक भी स्त्री पर, बालक पर या वृद्ध पर अत्याचार न करने की व्यवस्था तुम्हे करनी होगी। लुटेरा राजा बूढ़े की बात सुनी अनसुनी कर देता है। बूढ़ा महामाहन जलते हुए हृदय से, फिर-फिर नागरिकों की जीवरक्षा के लिए आवेदन करता है। मगर दगाबाज दुश्मन पर उसका कुछ भी असर नहीं होता। वह सिर्फ इतना स्वीकार करता है-'तुम मेरी माता के पालक हो। मैं तुम्हारा अधिकार स्वीकार करता हूँ, मगर ...

सीधा यही है कि तुम अपने कुटुम्ब सहित सही-सलामत रहो। विश्वास रक्खो, तुम्हारा बाल बांका न होगा।'

महासाहन अकेले अपनी सही-सलामती नहीं चाहता था। वह नगरस्थविर की हैसियत से अपना कर्त्तव्य अदा करना चाहता था। जब नगर के हजारों स्त्री-पुरुष आर्त्तनाद कर रहे हों, तब अकेले अपने कुटुम्ब को बचाने की उसकी इच्छा न थी। प्राणों से भी अधिक प्यारा नगरधर्म उसके अन्तर में क्षोभ पैदा कर रहा था। आक्रमणकारी राजा को उसने खूब समझाया, खूब प्रार्थना की। अन्त में राजा ने एक छूट दी। कहा—

'महासाहन! इतनी छूट मैं दे सकता हूँ। तुम पानी में डुबकी मारो और तुम्हारे ऊपर आने से पहले जितने नागरिक, जितनी सम्पत्ति लेकर भाग जाना चाहें, उतने भाग सकते हैं।

राजा की यह कठोर शर्त वृद्ध महासाहन, बिना आगा-पीछे सोचे स्वीकार करने के लिए उद्यत हो गया।

महासाहन अपना अशक्त शरीर लिये नदी के पानी में उतरा। उसने डुबकी मारी और पानी के नीचे तल-भाग पर पहुँच कर किसी पेड़ की जड़ से चिपट गया। मिनिट पर मिनिट और फिर घंटे पर घंटे समाप्त हो गए, मगर महासाहन ऊपर न आया। नगर के स्त्री-पुरुषों को अभयदान मिला। अन्त में, खोज करने पर महासाहन का अचेतन शरीर नदी के तल में मिल सका। वृक्ष की जड़ के साथ उसके हाथ-पैर नागपाश की भाँति जकड़े

हुए थे। नगर की रक्षा के लिए वृद्ध महामाहन ने अपना शरीर त्याग दिया था।

जैनयुग के नगरधर्म के संबन्ध में महामाहन का यह एक ही उदाहरण बस है। महामाहन का जीवन ही नगरधर्म पर जीवित भाष्य है। जहाँ इतना मँहगा मोल चुका कर धर्म और ग्रामधर्म का पालन किया जाता है, वहाँ समृद्धि और स्वतंत्रता का देवदुर्लभ दृश्य दिखाई पड़े तो इसमें अचरज की बात ही क्या है?

यहाँ इतना स्मरण रखना चाहिए कि इन धर्मों को किसी ने पारलौकिक धर्म के अर्थ में प्ररूपित नहीं किया है। यह लौकिक धर्म हैं और लौकिक सुख तथा कल्याण के लिए ही इनका उपयोग किया जाता था। फिर भी यह स्पष्ट है और निर्विवाद है कि जहाँ ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, कुलधर्म, गणधर्म तथा संघधर्म विनष्ट हो जाता है वहाँ सूत्रधर्म एवं चारित्रधर्म-जो पारलौकिक धर्म है-खतरे में पड़े बिना नहीं रहते। सामान्य बुद्धि से भी यह बात समझी जा सकती है।

आज अगर कोई यह समझता है कि-सच्चा जैन ग्राम, नगर राष्ट्र से एकदम अलिप्त रहता है, उसके लिए धर्म के अतिरिक्त अन्य कोई भी वस्तु महत्व की नहीं है तो मानना चाहिए कि यह नगरधर्म की निरी अवगणना है-धर्म के मूल पर कुठाराघात है।

ग्रामधर्म, नगरधर्म और राष्ट्रधर्म अपने ऐतिहासिक झंडा

की अमूल्य धर्मसंपत्ति है। आज दरिद्रता के युग में उसका प्रदर्शन करना हमारा आवश्यक कर्त्तव्य है।

नगरनायक की योग्यता कैसी होनी चाहिए, इस बात को समझने के लिए आनन्द गाथापति और महामोहन गाथापति को आदर्श बनाया जा सकता है। इन आदर्शों पर चलते हुए, नगरनायकों के नगरोद्धार के कार्य में नागरिक अगर पूरा भाग लें तो नागरिकता का, जो मानव जीवन को विकसित करने का एक महागुण है, विकास हो सकता है। नागरिकता से धर्मसंस्कृति का पोषण होता है। नगरधर्म का पालन करके धर्मसंस्कृति को समुन्नत बनाना प्रत्येक नागरिक का परम कर्त्तव्य है।

नगरधर्म की महत्ता समझकर, जब नागरिकता का गुण प्रकट किया जायगा तब ग्रामोद्धार, नगरोद्धार और राष्ट्रोद्धार के साथ ही साथ जैनधर्म का भी उद्धार होगा और जैनधर्म के उद्धार के साथ विश्वशान्ति का भी उदय होगा।

———.०.———

राष्ट्रस्थविर—राष्ट्रपति

[रट्ठथेरा]

जो व्यक्ति अपने सर्वस्व का त्याग कर, अपने प्राण भी राष्ट्र के पुनीत चरणों में अर्पण कर देता है वही व्यक्ति राष्ट्र का नेतत्व ग्रहण करके राष्ट्र के उत्थान का यश प्राप्त करता है।

ग्राम और नगर के उद्धार मे राष्ट्र का उद्धार है और उनके विनाश में राष्ट्र का विनाश सन्निहित है। इसका कारण यह है कि राष्ट्र नाम की कोई अलग वस्तु नहीं है-ग्राम और नगर मिल-कर ही राष्ट्र कहलाते हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि ग्रामों और नगरों की समृद्धि पर ही राष्ट्र की समृद्धि निर्भर है। ग्राम और नगर का उत्थान एवं पतन ग्रामनायक और नगरनायक के हाथ में है। ग्रामनायक और नगरनायक अगर बुद्धिमान शाली और प्रभावशाली हों और अपनी समूची शक्ति ग्रामोद्धार एव नगरोद्धार के लिए करें तो राष्ट्रपति अत्यन्त विस्तृत होने पर भी सुगम और प्रश—

अनेक ग्रामों के संबंध से नगर बनता है और अनेक नगरों का समूह एक प्रांत कहलाता है। एक राष्ट्र में अनेक प्रान्त होते हैं उन प्रान्तों में वेशभूषा, बोल चाल, खानपान, रीतिरिवाज आदि की भिन्नता भले हो, पर वे सब एक राष्ट्रधर्म के बंधन में बँधे होते है। समस्त प्रान्त एक ही धर्म-ध्वज की छत्र-छाया में बसे हुए हैं, इस प्रकार के राष्ट्रधर्म का मान राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को होना चाहिए। राष्ट्रपति के अनेक कर्त्तव्यों में से एक प्रधान कर्त्तव्य यह भी है कि राष्ट्रपति जनसमाज में एक राष्ट्रधर्म की भावना उत्पन्न करे और राष्ट्रधर्म की रक्षा के लिए आत्मसमर्पण की शक्ति उत्पन्न करे। वही राष्ट्रपति राष्ट्रोद्धार के महत्वपूर्ण कार्य में सफलता प्राप्त करता है जो राष्ट्र के प्रत्येक निवासी में, अपने त्याग द्वारा राष्ट्रीयता का भाव जागृत करता है। आप राष्ट्रधर्म की मर्यादा का पालन करता हैं और दूसरों से कराता है और जो राष्ट्र के अभ्युदय के लिए तन-मन धन की परवाह किये बिना ही उसमें निरन्तर संलग्न रहता है। ऐसे महाशय व्यक्ति को शास्त्रकारों ने 'राष्ट्रस्थविर' शब्द से उल्लिखित किया है। उसके लिए आजकल 'राष्ट्रपति' शब्द व्यवहार किया जाता है। 'राष्ट्रपति' शब्द में स्वामित्व का भाव मौजूद है, जब कि 'राष्ट्रस्थविर' शब्द उसकी एक विशेषता को ही प्रकट करता है।

राष्ट्रस्थविर सम्पूर्ण राष्ट्र का एक मात्र प्रतिनिधि है। वह राष्ट्र-देह का हृदय है, राष्ट्र का सच्चा सेवक है, पालक है, व्यवस्थापक

है। राष्ट्रस्थविर के आदेश का पालन करना राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य का कर्त्तव्य है। और प्रजाके सुख-दुखकी चिन्ता करना प्रजा की सुख-शांति के लिए, दुःख-निवारण के लिए फाँसी पर चढ़ने तक की क्षमता होना, यह राष्ट्रस्थविर का कर्त्तव्य है। जिस देश की प्रजा राष्ट्रस्थविर की आज्ञा शिरोधार्य नहीं करती और जो राष्ट्रस्थविर प्रजा के राष्ट्रधर्म का अनादर करता है, उस राष्ट्र का उत्थान नहीं होता। इस प्रकार राष्ट्रोत्थान का कार्य राष्ट्रस्थविर और राष्ट्रीय-प्रजा दोनों पर अवलंबित है। जिस राष्ट्र में राष्ट्रस्थविर और प्रजा का संबन्ध स्नेहमयी आत्मीयता से युक्त होता है, समझना चाहिए वही राष्ट्र उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है।

राष्ट्रस्थविर कैसा होना चाहिए और उसका कर्त्तव्य क्या है? इस प्रश्न के समाधान के लिए इतिहास के पन्ने पलटने के बदले भारत-हृदय के सम्राट् महात्मा गांधी का प्रत्यक्ष उदाहरण अधिक सुगम होगा। गाधीजी के जीवनव्यवहार ने राष्ट्रस्थविर का स्वरूप समस्त संसार के समक्ष प्रकाशित कर दिया है। गांधीजी का जीवन-चरित्र बतलाता है कि राष्ट्रस्थविर को कितनी कितनी मुसीबतें झेलनी पड़ती हैं और उन मुसीबतों में से उसे किस प्रकार पार होना पड़ता है।

राष्ट्रस्थविर को राष्ट्र की पोशाक का, खानपान का और रीति-नीति का पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता है। राष्ट्रस्थविर में अपने राष्ट्रके प्रति इतनी सद्भावना और इतनी ममता होती है कि वह स्वदेश के वातावरण के अनुसार ही भोजन-पान आदि

रखता है। विदेश की चमकीली-भड़कीली प्रतीत होने वाली पोशाक से या रीतिरिवाजों से उसका मन लुभा नहीं जाता।

आज अनेक भारतीय लोगों ने राष्ट्रधर्म की उपेक्षा करके ऐसी रीति-नीति अपनाई है कि वे भारतवासी होते हुए भी आचार-विचार से अंग्रेज बने रहते हैं। आश्चर्य है कि उन्हें राष्ट्रभाषा, राष्ट्रीय पोशाक और स्वदेशी खान-पान तक पसंद नहीं आता। ऐसे लोग अंग्रेजों का अन्ध-अनुकरण करने में ही अपना गौरव और सौभाग्य समझते हैं। वे भले ही ऐसा करने में गौरव समझें और सौभाग्य मानें, पर वास्तविकता यह है कि उनका यह कृत्य राष्ट्र के लिए अपमान है, दुर्भाग्य है, शाप है; क्योंकि उससे भारतीय प्रजा में अपनी संस्कृति के प्रति हीनता का भाव उत्पन्न होता है और उससे मानसिक गुलामी की श्रृंखला मजबूत होती है।

आज हमारे राष्ट्र में, राष्ट्रधर्म से विरुद्ध जो रीति-नीति उच्छृंखलता के साथ प्रचलित हो गई है उसका प्रधान कारण प्रजा के हृदय का दौर्बल्य है। अपने आपको समाज का नेता मानने वाले अनेक सज्जन परदेश जाते हैं और वहाँ राष्ट्रधर्म को भूलकर विदेशी रीति-रिवाजों को स्वीकार कर लौटते हैं और फिर उन्हें अपने देश में प्रचलित करते हैं। महात्मा गांधी की 'आत्मकथा' पढ़ने से समझा जा सकता है कि विदेश जाकर भी मनुष्य को अपने चारित्र की रक्षा किस प्रकार करना चाहिए।

गांधीजी जब परदेश जाने लगे तो उनकी माताजी को भय हुआ कि मेरा लड़का मांस मदिरा का सेवन कर भ्रष्ट न होजाय। इस भय से वे गांधीजी को बेचर स्वामी नामक एक काठियावाड़ी साधुमार्गी जैन मुनि के पास ले गई। उन्होंने मुनि से कहा—'महाराज श्री! अगर यह परदेश में मांस-मदिरा तथा परस्त्री का सेवन न करने की आपके समक्ष, प्रतिज्ञा करे तो मैं इसे परदेश जाने की आज्ञा दे सकती हूं। गांधीजी ने प्रतिज्ञाएँ अंगीकार की और विलायत गये। वहाँ अनेक प्रलोभनों ने गांधीजी को अपनी प्रतिज्ञाओं से च्युत करना चाहा, परन्तु दृढ़-प्रतिज्ञ गांधीजी टस से मस न हुए। इसी दृढता की बदौलत आज वह महात्मा बन सके हैं। अगर गाँधीजी अपनी प्रतिज्ञाओ पर अटल न बने रहते तो, आज वह जिस कोटि पर पहुँच सके है, उस पर पहुँच पाते या नहीं, यह एक प्रश्न है।

जो व्यक्ति अपने सर्वस्व का त्याग कर, अपने प्राण भी राष्ट्र के पुनीत चरणों में अर्पण कर देता है, वही व्यक्ति राष्ट्र का नेतृत्व ग्रहण करके राष्ट्र के उत्थान का यश प्राप्त करता है। गांधीजी ने अपने आत्मभोग और त्यागभाव के द्वारा राष्ट्र का सुन्दर नेतृत्व किया है और 'राष्ट्रस्थविर' पद को सार्थक कर दिखाया है। उनका समग्र जीवन 'राष्ट्रस्थविर' पद की व्याख्या है।

कुछ लोग यह प्रश्न करते है कि—'गांधीजी ने रा

स्वीकार कर हमारा क्या भला किया है ? उन्होंने स्वराज्य के नाम पर लाखों रुपये एकत्र किये, मगर उससे हमारी तनिक भी भलाई न हुई। इस दशा में उन्हें 'राष्ट्रस्थविर' कैसे कहा जा सकता है ?"

ऐसा प्रश्न करने वाले से मैं पूछना चाहता हूँ कि गांधीजी ने जो रकम इकट्ठी की, उसका उपयोग उन्होंने क्या व्यक्तिगत लाभ के लिए किया है ? हर्गिज़ नहीं। इसी प्रकार गांधीजी पर व्यापार चौपट करने का अभियोग लगाना निराधार है। गांधीजी ने अपने जीवन में, देश का व्यापार नष्ट करने के लिए, एक भी कदम नही बढ़ाया। उल्टे, वह देश के व्यापार को समृद्ध बनाने का ही प्रयत्न करते आये है। उनका यह कथन किससे छिपा है कि, अपने देश का माल ही उपभोग मे लेना चाहिए। इसीमें राष्ट्र का कल्याण है। अपने देश का कच्चा माल विदेश भेजकर, वहाँ उससे बना हुआ पक्का माल मँगाने का अर्थ है, अपनी एक रुपया की चीज विदेश भेजकर वही चीज़-अधिक कीमत चुकाकर खरीदना।

उदाहरणार्थ-एक रुपया की दो सेर रुई खरीद कर विदेश भेजना और विदेश मे उस रुई मे चर्बी लगाकर जो वस्त्र तैयार किये जाएँ उन्हें दस रुपया देकर खरीदना। यह व्यापार नहीं, लूट है। आज भारतवर्ष एक रुपया की चीज़ देकर फिर उसी को दस गुनी कीमत चुकाकर खरीद रहा है। इससे देश को आर्थिक हानि तो है ही, साथ ही धार्मिक हानि भी है।

स्वदेश अर्थात् अपना देश। अपने देश में बनी हुई चीज़ स्वदेशी कहलाती है। कौन ऐसा देशद्रोही मनुष्य होगा जो अपने

देश की बनी चीज़ न चाहता हो ! स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करना प्रत्येक स्वदेशप्रेमी का पवित्र कर्त्तव्य है। स्वदेश का उद्धार उसी दिन से आरम्भ होगा जिस दिन देशवासी स्वदेशी वस्तुओं का व्यवहार करना सीखेंगे ।

अगर कोई मनुष्य खुद ही अपनी माता का अपमान करता है तो दूसरे लोग उसका अपमान करते क्यों हिचकेंगे ? जब भारतवासी ही स्वदेशी वस्तुओं का तिरस्कार करके, विदेशी वस्तुओं को अपना कर, भारतमाता का अपमान करते हैं तो विदेशी लोग क्यों न उसका अपमान करें ?

विदेशी लोगों में और चाहे जितने अवगुण हों पर उन लोगों में स्वदेशप्रेम का जो सुन्दर गुण रहा हुआ है उसका प्रत्येक भारतीय को अनुकरण करना और अपने जीवन में उतारना चाहिए। स्वदेशप्रेम राष्ट्रीय जागृति का चिह्न है। जिस देश के निवासियों में स्वदेशप्रेम नहीं है उस देश को जीवित नहीं, मुर्दा समझना चाहिए। अगर हमें राष्ट्र का हित करना है तो स्वदेशी वस्तुओं को जल्दी से जल्दी अपनाना होगा। इसी में राष्ट्र का कल्याण है।

विदेशी वस्तुओं का विक्रय बन्द हो जाय और
वस्तुओं के व्यवहार का प्रचार हो जाय तो राष्ट्र के ला
गरीबों को, जिन्हे पहनने को वस्त्र और खाने को

वस्तुओं के व्यवहार से करोड़ों भारतीयों को सुख-शान्ति पहुँचाई जा सकती है। यह राष्ट्रस्थविरों का कथन है।

विदेशी वस्तुओं का विक्रय बन्द होने से और स्वदेशी का प्रचार होने से बन्डल के बन्डल और गांठों की गांठें विदेशी माल मँगाने वाले कतिपय व्यापारियों को आर्थिक क्षति पहुंच सकती है, पर विचारशील राष्ट्रनायकों का कथन है कि एक ही साथ सभी को लाभ पहुँचे और हानि किसी को भी न हो, यह दोनों बातें राष्ट्रधर्म में शक्य नहीं है। अधिक से अधिक मनुष्यों को लाभ पहुँचे, यही राष्ट्रधर्म मे शक्य हो सकता है। राष्ट्र-नेताओं के इस कथन पर विचार करने से यह बात बुद्धिगम्य और सत्य प्रतीत होती है, यही बात पहले भी कही जा चुकी है कि जो धर्म राष्ट्र के अधिक से अधिक मनुष्यों को लाभ पहुँचाता है वही राष्ट्रधर्म है। इस स्थिति में कोई भी स्वदेशीप्रेमी थोड़े से विदेशी वस्तुओं के व्यापारियों के लाभ के लिए करोड़ों आदमियों का अकल्याण कैसे सहन कर सकता है? विदेशी वस्तु के व्यापारी को स्वयं समझ लेना चाहिए कि-'हमें अपने लाभ के लिए अपने करोड़ों देश-भाइयों की सुख-शान्ति लूटने का क्या अधिकार है? हम दूसरों के अन्न-वस्त्र को कैसे लात मार सकते हैं? व्यापारियों को भी अपने अन्य भाइयों के हित के लिए स्वार्थत्याग करना चाहिए और गरीब भाइयों के दुख में भागीदार बनना चाहिए। जो व्यक्ति सदा अपने ही स्वार्थ में तन्मय रहता है, राष्ट्रधर्म को भुला देता है और गांधीजी जैसे राष्ट्रहितैषी और

सेवापरायण महात्मा पर अनुचित आक्षेप करता है उसने अपने जीवन का ध्येय ही नहीं समझा है। हाँ, गांधीजी से किसी का किसी बात मे मतभेद हो सकता है पर राष्ट्रधर्म की दृष्टि से उनका राष्ट्रधर्म का आदर्श न मानना और उस आदर्श की उल्टी अवगणना करना कोई बुद्धिमत्ता नही है,यह स्वदेशप्रेम भी नही है।

सुनते है, इसी भारतवर्ष में किसी समय एक रुपये के छ;मन चावल, और एक रुपये का तीस सेर घी मिलता था। तब कपडे का क्या भाव होगा ? दरअसल प्राचीन काल मे भारतवर्ष धन-सम्पदा से खूब भरपूर था।

प्राचीन काल में रुपये की खनखनाहट भले ही अधिक न सुनाई पडती हो, मगर उस समय देश धनसम्पन्न और धान्य-सम्पन्न था। उस समय आज की भांति भोजन मिलना कठिन न था। आज भारत न श्रीसंपन्न है, न धान्यसम्पन्न ही। भारत-वासियों ने अपने हाथों से आज विदेशी माल की कुल्हाड़ी से, भारत की जड़ काट डाली है। अगर हम उस कल्पवृक्ष के मधुर फल फिर चखना चाहते है तो विदेशी माल की कुल्हाड़ी हमें दूर फेंक देनी होगी और जिन हाथों से कल्पवृक्ष की जड़ काटी है उन्हीं हाथों द्वारा स्वदेशी माल के जल-सिंचन से उसे पल्लवित करना पडेगा। तब उस कल्पवृक्ष की शीतल छाय अनेक श्रमजीवी अपने श्रम को हल्का कर सुख शांति का करेंगे।

पूज्यश्री श्रीलालजी महाराज का कथन था कि जिस समय अन्न वस्त्र सस्ते और सोना-चांदी मँहगा हो वह पुण्यकाल और सोना चाँदी सस्ता तथा अन्नवस्त्र मेंहगा हो वह पाप-काल अर्थात दुर्भाग्य का समय समझना चाहिये। क्योंकि सोने चांदी से जीवन की कोई आवश्यकता पूर्ण नहीं होती, जब कि अन्न और वस्त्र जीवनधारण के लिये अनिवार्य हो गये हैं। समझना चाहिए कि जिस राष्ट में जीवन की अनिवार्य आवश्यकता की-अन्न वस्त्र की पूर्ति हो रही है वह राष्ट्र प्रगति की ओर प्रयाण कर रहा है और जिस राष्ट्र में अन्न-वस्त्र की पूर्ति नही होती वह अधःपतन की ओर अग्रसर हो रहा है। राष्ट्र की उन्नति और अवनति को परखने के लिए यह कसौटी है। राष्ट्रोन्नति का द्वार खोलने की यह चाबी जब हमारे हाथ आजाएगी तब समझ लीजिए-हमने भारत की उन्नति का मार्ग खोज निकाला है। इस समय राष्ट्रोन्नति का द्वार बन्द है। इस द्वार को खोलने के लिए अन्न-वस्त्र की आवश्यकता स्वयं पूर्ण करने के लिए चाबी की खोज करनी चाहिए। पहले कहा जा चुका है कि ग्रामोद्धार और नगरोद्धार करने से ही राष्ट्र का उद्धार हो सकता है।

राष्ट्रनायकों के इस कथनमें संशयकी गुंजाइश नहीं है, क्योंकि ग्राम ही अन्न और वस्त्र की उत्पत्ति का स्थान है और नगर अन्न-वस्त्र की व्यवस्था करने का स्थान है। जब ग्राम और नगर-राष्ट्र

देह के हाथ पैर स्वस्थ एवं सबल हो जायेंगे तो राष्ट्रदेह उन्नत-मस्तक होकर चल फिर सकेगा। हमें यह बात भलीभांति समझ लेनी चाहिए कि राष्ट्रोद्धार मे अपने धर्म का उद्धार निहित है और राष्ट्र के अधःपतन पर अपना और अपने धर्म का अधःपतन अवलंबित है। इस सत्य को समझकर, इसके अनुसार वर्त्ताव करने से राष्ट्र का हित अवश्य होगा और साथ ही अपना तथा अपने धर्म का भी। अपना व्यक्तिगत स्वार्थ-भाव छोड़कर राष्ट्रोद्धार के सबन्ध में विचार किया जाय तो राष्ट्र को सुखी बनाने का उपाय और उसके संबन्ध में अपना कर्त्तव्य स्वयं जान पडने लगेगा। व्यक्ति का राष्ट्र के प्रति क्या कर्त्तव्य है, यह बात निम्नलिखित दृष्टांत से समझी जा सकती है—

किसी भक्त पर देव प्रसन्न हुआ। देव ने कहा—'हे भक्त! तेरा भक्ति-भाव देखकर मैं तुझ पर प्रसन्न हूं। तू दो वस्तुओं में से कोई एक वस्तु मांग ले। तू चाहे तो बडे-बडे आम, नारंगी आदि के मधुर फल वाले वृक्ष दू अथवा गेहूं बाजरा के छोटे२ पौधे देदू। इच्छा हो सो मांग ले।'

भक्त ने कहा—'हे देव! आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मुझे गेहूँ बाजरा के छोटे-छोटे पौधे ही वरदान में दीजिए। मुझे उन्हीं की आवश्यकता है। मधुर फलों वाले विशालकाय वृक्ष मुझे न चाहिए।'

देव को आश्चर्य हुआ। पूछा-'हे भक्त! तू मधुर फल वाले वृक्षों को छोड़, गेहूँ-बाजरे के छोटे पौधे क्यों माँगता है?'

बुद्धिमान् भक्त ने कहा—बडे-बडे वृक्षों के मीठे फलोंसे अमीरों-उमरावों के नाश्ते का काम चल सकता है; उनसे जन-साधारण की भूख नहीं मिट सकती। मगर गेहूँ बाजरे के पौधे गरीब और अमीर दोनों के लिए समान रूप से उपयोगी हैं। अतएव मैंने अमीरों के मौज-शौक का ख्याल न करके जनसाधारण के लिए अनिवार्य उपयोगी वस्तु-अन्न को पसंद किया है।'

देव अपने भक्त पर प्रसन्न हुआ और वरदान देकर चला गया इस प्रकार जब तक मनुष्य अपना स्वार्थ त्याग कर विश्व की सुख-सुविधा का विचार नही करता तब तक राष्ट्र के कल्याण की शुभ भावना उसके अन्तर में उत्पन्न नहीं होती। राष्ट्र का कल्याण जनसाधारणके कल्याण मे ही है। राष्ट्रधर्म इस बातका तीव्र विरोध करता है कि सम्पन्न लोगों को सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ मिलें और बेचारे गरीब किसान तथा मजूर परिश्रम एवं उत्पीड़न के कोल्हू मे पिसते रहें; फिर भी भरपेट अन्न न पावें। राष्ट्रधर्म जनसमाज के हित देखता हैं। जनसमाज के हित में ही अमीर गरीब सब का हित समाया है। राष्ट्रधर्म समभाव का पोषक है। उसे न अमीरों से अनुराग है, न गरीबों से विराग है। अन्याय-अत्याचार का विरोध करके जनता मे सुख-शान्ति का संचार करना राष्ट्रधर्म का ध्येय है।

जहाँ स्वार्थ ने प्रवेश किया नहीं कि राष्ट्रधर्म का ध्येय नजरों से ओझल हो जाता है, अतएव राष्ट्रीयता की भावना का मूल

निःस्वार्थ भावना में है। जहाँ निःस्वार्थभाव, सहृदयता, सहानुभूति, देशप्रेम, नही है वहाँ राष्ट्रीय भावना जागृत नहीं होती।

जिस प्रवृत्ति के द्वारा ससार का कल्याण होता है वह धर्मप्रवृत्ति कहलाती है और जिससे ससार का अकल्याण-पतन होता है वह पापप्रवृत्ति कही जाती है। इसी दृष्टिविन्दु को सामने रखकर शास्त्रकारों ने ग्रामधर्म, नगरधर्म राष्ट्रधर्म आदि लौकिक धर्मों की तथा स्थविरों की व्याख्या की है।

यह खेद की बात है कि भारतवर्ष मे आज राष्ट्रधर्म लुप्त-प्राय हो रहा है। राष्ट्र की दुर्गतिका यही कारण है। लोग राष्ट्र-धर्म से विलग रहने में ही अपना कल्याण माने बैठे है। विचार करने से मालूम होगा कि उनकी यह मान्यता भूल भरी है। राष्ट्रधर्म के प्रताप से, जिस देश में सघन स्नेहभाव था, द्वार पर ताला लगाने की भी आवश्यकता नही होती थी, उसी देश-भारतवर्ष मे राष्ट्रधर्म के अभाव के कारण, घर-घर क्लेश की आग सुलग रही है, अविश्वास और वैर-विरोध की वृद्धि हो रही है, यहाँ तक कि पिता-पुत्र और पति-पत्नी मे भी वह पारस्परिक विश्वास शेष नहीं रहा है। आज पिता पुत्र से, पुत्र पि
से; पति, पत्नी से अपना भेद छिपाने की चेष्टा करता है
वस्तुओ पर भी, घर के भीतर ताला लगाया जाता
देखो तहाँ, राष्ट्रधर्म की ठीक व्यवस्था न होने से,
हत्या, व्यभिचार आदि अत्याचारों का दौर
मगर अंधकार में आशा की एक किरण चमक

है। राष्ट्र की चेतना, मानों अलसा कर जागना चाह रही है। उसकी चिरनिद्रा भंग होती जान पड़ती है। राष्ट्र की उन्नति के लिए विचार-विनिमय किया जा रहा है और-जनसाधारण से राष्ट्रीयता के प्रति सहिष्णुता एवं सहानुभूति जागृत हो रही है। जान पड़ता है, वह मंगल-दिवस बहुत दूर नही है जब राष्ट्रधर्म की समुचित व्यवस्था होगी और राष्ट्रधर्म के ध्येय-स्वतंत्रता तथा विश्वशान्तिको प्राप्त करने के लिए राष्ट्र का बच्चा-बच्चा उद्योगशील बनेगा। उस दिन, जनयुग का राष्ट्रधर्म विश्वशान्ति के साम्राज्य मे राज्यव्यवस्था करता दृष्टिगोचर होगा।

भारत कृषिप्रधान देश है। कृषि करके जगत् का पालन-पोषण करने वाले किसान ग्रामों मे वसते है, इसलिए भारत देश ग्रामों में बसता है।

जिस बगीचे मे आम के हजार वृक्ष होते है, वह 'आँबावाड़ी' (आम्रवाटिका) कहलाती है। उसमें दस-बीस पेड़ जामुन या नीबू के भले ही हों, पर उसे कोई 'जामुनबाड़ी' या 'नीबूबाड़ी' नहीं कहता। इसी प्रकार भारतवर्ष मे गरीब जनता अधिक है और अमीर तथा सेठ-साहूकार बहुत थोड़े हैं। इस स्थिति में भारतवर्ष गरीबों का देश है अमीरों और सेठ-साहूकारों का नहीं। अतएव भारत की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था गरीबों को लक्ष्य बनाकर ही की जा सकती है-अमीरों को लक्ष्य कर नहीं।

बड़े-बड़े सेठ साहूकारोंका सुख गरीबोंकी कृपा पर निर्भर है।

है। राष्ट्र की चेतना, मानों अलसा कर जागना चाह रही है। उसकी चिरनिद्रा भंग होती जान पड़ती है। राष्ट्र की उन्नति के लिए विचार-विनिमय किया जा रहा है और-जनसाधारण से राष्ट्रीयता के प्रति सहिष्णुता एव सहानुभूति जागृत हो रही है। जान पड़ता है, वह मंगल-दिवस बहुत दूर नहीं है जब राष्ट्रधर्म की समुचित व्यवस्था होगी और राष्ट्रधर्म के ध्येय-स्वतंत्रता तथा विश्वशान्तिको प्राप्त करने के लिए राष्ट्र का बच्चा-बच्चा उद्योगशील बनेगा। उस दिन, जनयुग का राष्ट्रधर्म विश्वशान्ति के साम्राज्य मे राज्यव्यवस्था करना दृष्टिगोचर होगा।

भारत कृषिप्रधान देश है। कृषि करके जगत् का पालन-पोषण करने वाले किसान ग्रामों मे बसते है इसलिए भारत देश ग्रामों में बसता है।

जिस बगीचे मे आम के हजार वृक्ष होते है, वह 'आँबावाड़ी' (आम्रवाटिका) कहलाती है। उसमे दस-बीस पेड़ जामुन या नीबू के भले ही हों, पर उसे कोई 'जामुनबाड़ी' या 'नीबूबाड़ी' नहीं कहता। इसी प्रकार भारतवर्ष मे गरीब जनता अधिक है और अमीर तथा सेठ-साहूकार बहुत थोड़े हैं। इस स्थिति मे भारतवर्ष गरीबों का देश है अमीरों और सेठ-साहूकारों का नहीं। अतएव भारत की आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था गरीबों को लक्ष्य बनाकर ही की जा सकती है-अमीरों को लक्ष्य कर नहीं।

बड़े-बड़े सेठ साहूकारोंका सुख गरीबोंकी कृपा पर निर्भर है।

अतएव गरीबों की रक्षा न की जाय और सेठ-साहूकार अपने धनबल से अधिकाधिक धन संचित करते जाएँ तो देश को सुखी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि देश गरीबों का है, अमीरों का नहीं। अतएव जब तक गरीब दुखी हैं तब तक देश दुखी है और जब गरीब सुखी होंगे तभी देश सुखी कहलाएगा। सच्चा राष्ट्रधर्म वही है जो भारत के जीवनधन-गरीब भारतीयों की खोज-खबर लेता है। अन्न और वस्त्र के लिये मरने वाले तथा परस्पर विद्रोह करके एक दूसरे के वैरी बनने वाले गरीबों के लिए जब तक पर्याप्त अन्न और वस्त्र का प्रबन्ध नहीं होता तब तक राष्ट्र-धर्म अपूर्ण है।

आज कितनेक स्वार्थी लोग, राष्ट्रधर्म की अवगणना करके, अपनी आँखों पर स्वार्थ का चश्मा चढ़ाकर, बेचारे गरीबों का अन्न-वस्त्र छीन रहे हैं और उनके जीवन-मरण तक का विचार नहीं करते। वे अपनी तिजोरियाँ भरने में ही मशगूल हैं। ऐसे स्वार्थी लोगों को अब राष्ट्रधर्म का पहला पाठ पढ़ाने की आवश्यकता है। जब उन्हें राष्ट्रधर्म का किंचित् बोध होगा तो उनके नेत्र खुलने लगेंगे और तब उनकी स्वार्थपरायणता भी कम हो सकेगी।

आज भारतवर्ष की स्थिति कितनी भयकर है, यह खयाल ही बहुतों को नहीं है। बहुतों को खयाल करने की चिन्ता भी प्रतीत नहीं होती। उन्हें दुनिया भर के बाजार के भाव-ताव जानने की जितनी चिन्ता रहती है, उतनी अपने देश की स्थिति

जानने की नहीं रहती । पर उन्हें समझ रखना चाहिए, जिस दिन भयंकर स्थिति की भयंकरता फूट पड़ेगी उस दिन दुनियां के बाजार भाव उन्हें पनाह नहीं दे सकेंगे, तिजोरियां उनकी रक्षा न कर सकेंगी । उस दिन उन्ही गरीबों की शरण में आश्रय लेना होगा, जिन्हें आज नफरत की निगाह से देखा जाता है, जिनका अपमान किया जारहा है और जिन्हें मात्र हाड-मांस का निर्जीव पुतला समझा जा रहा है। यह सत्य चाहे कटुक हो पर हितकारी है और अब बिना अधिक विलम्ब किये उसे समझ लेना चाहिए। राष्ट्रधर्म के शरण में गये विना कोई चिरकाल तक सुखी नहीं रह सकता । राष्ट्रधर्म, जनसमाज का रक्षक और पोषक धर्म है ।

एक घर मे एक मनुष्य पेट भर खाता है, भूख न होने पर भी ठूंस-ठॉस कर किसी प्रकार माल बिगाड़ता है, जबकि बाकी के दस मनुष्यों को भरपेट रूखी-सूखी रोटी तक नसीब नहीं होती । क्या ऐसे आपा-पोखी मनुष्य को कोई सज्जन कह सकेगा ? नहीं।

इस देश में आज यही अव्यवस्था चल रही है। इस सीधी सादी बात को बहुत कम लोग समझते हैं। जहॉ गरीबों के प्रति सहानुभूति ही नहीं रह गई है वहां राष्ट्रधर्म की भावना किस प्रकार जागृत हो सकती है ?

भारतवर्ष में लगभग छह करोड़ से भी ज्यादा मनुष्य हैं, जिन्हें सिर्फ एक जून खाना मिलता है अर्थात् उन्हें पेट भर खाना नसीब नहीं होता । जहां खाने की यह कठिनाई है वहां कपड़ों की कठिनाई का अन्दाज लगाना सहज है । जहाँ कंगालों की हालत

रह है वहीं उन्हीं कंगालों के खून के पसीने से धनाढ्य बने हुए मुट्ठी भर लोग अपने राग-रङ्ग में खान-पान में, ब्याह शादी में, भोजों में और तरह तरह की पार्टियों में आँखें मींचकर धन का दुर्व्यय करते देखे जाते हैं। उन्हें अपने गरीब भाइयों की ओर आँख उठाकर देखने की फुर्सत नहीं। यह कितनी कृतघ्नता है? जिन गरीबों की बदौलत वह धनिक बने है, सेठ साहूकार कहलाते है, रईसी भोगते हैं, उन्हीं की दुर्दशा का विचार तक न करना वास्तव में घोर स्वार्थीपन और अमानुषिकता है।

अपनी स्वार्थपरता को कई लोग फिलासफी के रंग मे रंगने की चेष्टा करते हैं। कहने लगते हैं— गरीबों ने पूर्व जन्म में पाप किया है सो इस जन्म में उसका फल भुगत रहे हैं। अन्तरायकर्म का उदय है-भोगोपभोग मिल नहीं सकते, तब उनकी मदद करने से क्या लाभ होगा? मगर परमार्थ का ज्ञाता पुरुष ऐसा विचार नहीं कर सकता। वह जानता है-जो गरीब मनुष्य अन्तरायकर्म से दुखी है उसी मनुष्य पर दया करनी चाहिए। वही दया का पात्र है। अगर गरीब पर दया न की जायगी तो क्या धन-कुबेर दया के पात्र होंगे? जो दुखी नहीं है-जिसे संसार का सारा वैभव प्राप्त है उसे दान देने या उस पर दया करने का उपदेश देने की क्या आवश्यकता है? बुद्धिमान् पुरुष सोचता है कि जिन गरीबों के उद्योग से मुझे सफलता मिली है, उनके सुख-दुख में साझीदार होना मेरा धर्म है-कर्त्तव्य है।

उपकार करने के प्रसंग पर 'यह उनके कर्मोका फल है' कहकर दुखी जनों की सहायता न करना उपकार वृत्ति को देशनिकाला देना है। यह निर्दयता है।

जिस प्रकार श्रीमन्ताई अपने आप में सद्गुण नही है, उसी प्रकार गरीबी कोई अपराध नही है। आज जो श्रीमान् है, वह सदैव श्रीमान् रहेगा और जो दरिद्र है वह सदा के लिए दरिद्र रहेगा, ऐसा कोई शाश्वत नियम नहीं है। यह सब अवस्थाएँ गाडी के पहिये की भाँति बदलती रहती है। विवेकशील पुरुष वैभव की गोद मे फूल नहीं जाता और गरीबी पाकर घबरा नही जाता।

'सच्चा राष्ट्रप्रेमी वह है जो अपनी सम्पत्ति को राष्ट्र की सम्पत्ति समझता है। उसके मन मे वह उस सम्पत्ति का 'ट्रस्टी' मात्र होता है। अतएव राष्ट्र की आवश्यकता के समय वह अपनी तिजोरी बन्द नही रख सकता। राष्ट्रधर्म का रहस्य राष्ट्रोद्धार के कार्य में सन्निहित है। राष्ट्रधर्म संबन्धी प्रेम राष्ट्रीयता का भाव जगाता है। जिस राष्ट्र के निवासियों में अपने राष्ट्र के प्रति श्रद्धा नहीं है, अनुराग नही है, उस देश का जल्दी उद्धार होना कठिन ही समझिए।

यह कितने खेद की बात है कि आज अधिकांश भारतीयों में राष्ट्रधर्म के प्रति सद्भाव भी नहीं है। पाश्चात्य लोगों में राष्ट्र के प्रति कितना सद्भाव है, यह बात एक सत्य घटना के उल्लेख से ज्ञात हो जाती है।

सागर में एक श्रावक थे। वह देशी और विदेशी—दोनों प्रकार की वस्तुओंका व्यापार करते थे। एक बार किसी अङ्गरेज ने उनकी दुकान से चावल खरीदने के लिए अपना नौकर भेजा। दुकानदार के पास दोनों तरह के चावल थे; परन्तु देशी चावल अच्छे और सस्ते थे। साहब को अच्छे चावल देने के इरादे से उसने देशी चावल नौकर को दे दिये। नौकर चावल ले, चला गया। साहब ने चावल देखे तो लाल-पीला हो गया। नौकर को कुछ भला-बुरा कहा। अन्त में नौकर को हुक्म दिया—इसी समय जाकर देशी चावल लौटा आओ और विदेशी खरीद लाओ।

भागा-भागा नौकर दुकान पर पहुँचा। सेठजी से सब हाल कहा। सेठजी ने चावल लौटा लिए और चौगुनी कीमत वसूल कर परदेशी चावल तोल दिये।

कुछ दिनों बाद सेठजी की उसी साहब से मुलाक़ात हुई। सेठजी ने चावलों की अदलीबदली का कारण पूछा। साहब ने कहा—'विलायती चावल खरीदने से उसकी कीमत हमारे देशवासियों को मिलती है। हम ऐसे मूर्ख नहीं है, जो विदेश मे आकर अपने देश भाईयों को भूल जाएँ और अपने देश का माल न खरीदें। हमारे लिए स्वदेश प्रथम है—दूसरे देश फिर। हम देशद्रोह करके अपना जीवन कलंकित नहीं करना चाहते।'

सेठजी साहब का देशप्रेम देख चकित रह गये। उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं का ही व्यापार करने की प्रतिज्ञा कर ली।

पाश्चात्यों के देशप्रेम का एक और उदाहरण जानने योग्य है-

बम्बई में एक अंगरेज ने अपने नौकर को बूट खरीदने भेजा। नौकर देशी दुकान से, एक सुन्दर बूट की जोड़ी पाँच रुपये में खरीद ले गया। उस अंगरेज ने बूट देखे। उसकी निगाह वहाँ गई जहाँ लिखा था-Made in India. इन शब्दों को देखते ही अंगरेज आगबबूला हो गया। बोला-'गधे कहीं के, यह देशी बूट क्यों लाया।'

नौकर ने कहा-साहब आप पहन देखें। बूट सुन्दर हैं और टिकाऊ भी।

साहब-देशी बूट कितने ही सुन्दर और टिकाऊ हों, मुझे नहीं चाहिए। तू यह वापस कर आ। मेरे लिए बिलायती बूट, किसी अंगरेज कम्पनी से खरीद ला। उसके मोल की चिन्ता तुझे नहीं करनी है।

नौकर देशी व्यापारी के पास गया और बूट के विषय में आप-बीती सुनाई। उस भले व्यापारी ने बूट लौटा लिए। फिर वह नौकर अंगरेजी कम्पनी में गया और कई गुनी कीमत चुकाकर बूट-जोड़ा खरीद ले गया। साहब ने बूट देखे। Made in England देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। नौकर ने डरते-डरते पूछा-हूजूर, यह कीमत में भारी हैं, टिकाऊ भी वैसे नहीं हैं और खूबसूरती में भी उतने नहीं हैं। फिर आपने पहले वाले बूट न लेकर यह क्यों पसन्द किये? साहब बोले-इंगलिश कम्पनी से खरीदे

हुए बूट मेरे देश की बनी वस्तु हैं। वह कैसे भी क्यों न हों; मुझे प्रिय है। अपने देश की चीज खरीद कर मैं अपने देश के प्रति प्रेम प्रकट करता हूँ। जिस देश में मेरा पालण-पोषण हुआ है, उसकी अवगणना मै कैसे कर सकता हूँ। सात समुद्र पार आकर भी, जब मैं अपने देश की बनी वस्तु देखता हूँ तो देश की सुखद स्मृति मेरे दिल में हिलोरें मारने लगती है। मेरा मस्तक देश के लिए झुक जाता है। मेरा देश मेरे लिए देव है। मै देवता की भाँति अपने देश की पूजा करता हूँ।'

यह उदाहरण कल्पित नहीं हैं। यह घटी हुई सच्ची घटनाएँ हैं। इन उदाहरणों से हमें राष्ट्रप्रेम और देशभक्ति जो शिक्षा मिलती है, वह भारतवासियों को सीखन चाहिए। इसमें से अपने 'देश की स्वतंत्रता का मूल मंत्र मिल सकता है। पाश्चात्य लोगों ने देश हमारा देव है और स्वदेशी वस्तु उस देव का प्रसाद है' इस राष्ट्रीय भावना को अपने जीवन में मूर्त्त रूप दिया है। इसी मूर्त्त भावना के कारण वह स्वतंत्रता का सुख अनुभव कर रहे हैं। वह सात समुद्र लांघकर हजारों मील की दूरी पर, भारत में आये हैं, मगर क्षण भर के लिए अपना देश नहीं भूलते। उनकी राष्ट्रभक्ति का इसीसे परिचय मिलता है।

और भारतीय? उनकी हालत एकदम उलटी है। भारतीय अपने देश में रहते हुए भी, देश परतंत्र और पतन में है-इस बात को जानते हुए भी, विदेशी वस्तुओं का व्यवहार करने में गौरव मानते हैं

बड़े से बड़ा कलंक है। इस कलंक को दूर करने पर ही भारत का मुख उज्ज्वल हो सकता है।

विदेशी वस्त्र एवं अन्य वस्तु का व्यवहार, राष्ट्रीय दृष्टि से घोर पाप है ही, साथ धार्मिक ही दृष्टि से भी निषिद्ध है। भला जिस विदेशी वस्त्र में चर्बी का उपभोग करने के लिए लाखों-करोड़ों पशुओं का निर्दयतापूर्वक वध किया जाता है, उस वस्त्र का उपभोग भारतीय-जिनका आदर्श अहिंसा है-किस प्रकार कर सकते हैं? जैनधर्म की दृष्टि से, विदेशी और ऐसी ही अन्य वस्तुएँ, जिनके लिए पंचेन्द्रिय प्राणियों का घात किया जाता है, अगर हेय हैं तो इसमें शंका की गुंजाइश ही नहीं है। विदेशी वस्त्र का व्यवहार स्पष्ट ही हिंसाजनक है, अतएव त्याज्य है। विदेशी वस्त्र का व्यवसाय धर्म भ्रष्ट करने वाला है।

जिस देश के मनुष्य अपने देश की तथा अपने देश की वस्तुओं की कद्र करना नहीं जानते, उस देश के मनुष्यों की कद्र दूसरे देश मे नही होती। साधारण गांव में अगर कोई अंग्रेज-फिर भले ही वह बवर्ची ही क्यों न हो, पहुँच जाता है तो भारतीय लोग 'साहब आये' कहकर उसका अदब करते हैं; इससे विपरीत विदेशों में भारतीयों की कद्र कितनी होती है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। कौन नहीं जानता, दक्षिण अफ्रीका में 'कुली बैरीस्टर' शब्द से महात्मा गांधी की कद्र की जाती थी। भारत के अग्रगण्य नेताओं को भी विदेश में अपमानित होना पड़ता है; इसके मूल कारण का पता लगाया जाय तो ज्ञात होगा

कि अपनी भूल ही शूल की भाँति दुःख दे रही है। जब भारतवर्ष का जनसमाज अपना राष्ट्रधर्म भूलकर विदेशी वस्तुओं को अपनाता है, तब उसका दुष्परिणाम, भारतीय होने के नाते गांधीजी और रवीन्द्रनाथ जैसे आदर्श नेताओं को भी भोगना पड़ता है।

हृदय जब तक राष्ट्रधर्म से ओतप्रोत नहीं होता तब तक राष्ट्रप्रेम उत्पन्न नहीं हो सकता। और राष्ट्रप्रेम के अभाव में राष्ट्रोन्नति नहीं हो सकती। राष्ट्र के उद्धार के लिए त्याग-भावना और सहिष्णुता की अपेक्षा रहती है। भारतीयों के पतन का मुख्य कारण राष्ट्रधर्म और उसके प्रचारक एवं व्यवस्थापक राष्ट्रस्थविरों का अभाव है। राष्ट्रोद्धार के पुनीत यज्ञ मे, राष्ट्र-स्थविरों को अपनी समग्र शक्तियाँ समर्पित कर देनी पड़ती है। प्रत्येक उन्नत राष्ट्र इस बात का जीता-जागता प्रमाण है कि सर्वस्व समर्पण किये विना किसी भी राष्ट्र का उद्धार नहीं हो सकता। गाँव-गाँव और नगर-नगर मे राष्ट्रसेवकों के जो स्मारक खड़े किये जाते है, वे स्मारक अपनी मौनमयी भाषा मे राष्ट्रोद्धार के लिए जीवनोत्सर्ग-आत्मबलिदान-शहीदी-का पाठ पढ़ाते हैं।

महाराणा प्रताप राष्ट्र का सच्चा तेजःपुंज था। वह स्वतंत्रता-देवी का सच्चा सपूत था। इस नर-वीर ने स्वतंत्रता-देवी और भारतमाता की रक्षा के लिए राजपाट छोड़ा, वैभव-ठुकराया और स्वेच्छा से गरीबी गले लगाई। उसने [illegible] तक अरवली पहाड़ों में, तरह-तरह की मुसीबतें

उसके मन धूप न थी, ठंड उसके मार्ग में वाधक न थी। खानेको अन्न न मिलता तो घासके बीजकी रोटियाँ खाकर ही रह जाता पर उसने विदेशियो द्वारा स्वदेशको अपमानित न होने दिया। महाराणा प्रताप की महारानी पद्मावती, जो राजमहलों मे सुखपूर्वक रहती थीं, अपने प्राणप्रिय पति की सेवा के लिए पहाड़ो मे रहने लगी और पति के सुख-दुख की भागीदार बनकर उसने अर्धांगना पद को सार्थक किया। राणा की संतान रोटी के एक-एक टुकड़े के लिए करुण रुदन करने लगी। तब प्रताप जैसा प्रतापी पुरुष भी एक बार अस्थिर हो उठा। पर वह नरवीर कष्टों और मुसीबतों से कहाँ डरने वाला था। वह तो पराधीनता मे डरता था। स्वदेश की स्वतंत्रता के हेतु वह अपने प्राण भी हँसते-हँसते त्याग सकता था। स्वदेश की स्वतंत्रता उसे इतनी प्रिय थी कि उसके लिए उस वीरश्रेष्ठ ने ससार के समस्त भोग-विलास ठुकरा दिये और स्वेच्छा से कष्ट एवं दुःख अंगीकार किये।

किसी भी देश की प्रजा मे जब तक स्वतंत्रता के लिए त्याग और साहस की वृत्ति उत्पन्न नही होती तब तक राष्ट्रधर्म का भलीभाँति पालन नहीं किया जा सकता और, फल स्वरूप न तो राष्ट्र की उन्नति हो सकती है, न प्रतिष्ठा कायम हो सकती है।

जिस देश में प्रताप जैसे स्वतन्त्रता के पुजारी ने जन्म लिया, उसी देश की प्रजा आज राष्ट्र के प्रति अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा भूली हुई है। कैसा आश्चर्य !

हम जिस देश का अन्न खाते हैं, उसे अगर भूल जाते है तो इससे

बड़ी कृतघ्नता और नहीं हो सकती। हमारे पास कौन-सी ऐसी चीज है जिसका देश के साथ संबन्ध नहीं है? तो जिस राष्ट्र के उपकार से जीवनव्यवहार चलाते है, उस उपकारी राष्ट्र का भी अपकार करना कितनी अमानुषिकता है?

भारतवर्ष मे अज्ञान-अंधकार इतना अधिक फैला हुआ है कि राष्ट्रीय-भावना की ज्योति कही दिखाई नहीं देती। इसी अज्ञान की बदौलत भारत के पैरों मे पराधीनता की बेड़ियाँ पड़ी हैं। सतोष की बात यही है कि राष्ट्रस्थविरों के सतत प्रयत्न से राष्ट्रीय-भावना की चिनगारियाँ कहीं-कहीं नजर आने लगी है।

मैं पूछता हूँ कि समस्त संसार को अज्ञान-अंधकार से तारने वाले तीर्थंकर भगवान् कहाँ जन्मे थे? इसी भारतभूमि में।

जिस भारतभूमि को तीर्थकरों ने अपने चरणन्यास से पावन बनाई है, जिस भूमि पर विचर कर उन महात्माओं ने जन समाज को सत्य धर्म का उपदेश दिया है, उस भूमि का कितना माहात्म्य है? भारतभूमि वास्तव मे पवित्र भूमि है, पुण्यभूमि है, धर्मभूमि है।

पाश्चात्य देशों मे आलू वगैरह तो पर्याप्त मात्रा में उत्पन्न होते हैं मगर गेहूँ आदि खाद्य पदार्थ, जिनके बिना जीवनव्यवहार चल नही सकता, बहुत कम होते है। अगर भारत या अन्य किसी उपजाऊ देश से वहाँ गेहूँ का निर्यात न किया जाय तो उन देशों के निवासियों को खाने के लाले पड़ जाएं। यह बात हमारे यहाँ नही। अगर कोई भी चीज यहाँ बाहर से न आवे तो भी हमारा निर्वाह बखूबी हो सकता है। भारतवर्ष की यह विशेषता है। भारत अगर स्वतंत्र हो तो सम्पूर्ण विश्व को सुख-शांति पहुंचाने का सामर्थ्य उस में आज भी मौजूद है। पर दीर्घकालीन पराधीनता उस शक्ति को चूसती जा रही है।

भारतभूमि में गंगा यमुना जैसी अनेक विशाल और सुख-दायक नदियाँ बहती है और हिमालय जैसा अद्वितीय ऊंचा पर्वत उसकी रक्षा करता है। प्रकृति देवी जिस भारत देव की सेवा करती है, वहां अगर स्वाभाविक सुख-शांति हो तो आश्चर्य की बात ही कौनसी है? किसी कवि ने ठीक ही कहा कि—जिस देश मे जितने ऊँचे पर्वत होते हैं, उस देश के महापुरुष भी भावना की दृष्टि से उतने ही ऊँचे होते है।

भगवान् महावीर, बुद्ध, राम और कृष्ण जैसे महापुरुषों की भेट भारत ने विश्व को अर्पित की है। भारत ऐसी रत्नगर्भा भूमि है! ऐसी पवित्र भूमि का अपमान हो, इस भूमि के पुत्र विदेशियों के बन्धन मे बँधे हों यह कितने संताप का विषय है? इस दय-नीय दशा का प्रधान कारण, राष्ट्र के प्रति हृदय मे श्रद्धाभाव न होना और राष्ट्रस्थविर की आज्ञा को अन्तर से स्वीकार न करना

है। युगधर्म के प्रताप से राष्ट्रधर्म के प्रति श्रद्धाभाव और राष्ट्रस्थविर के प्रति भक्तिभाव प्रकट होता जा रहा है यह आनन्द की बात है।

देश के नायकों का कथन है कि जो मनुष्य अपने राष्ट्र के मानापमान का ध्यान नहीं रखता, उस मनुष्य का मान त्रिकाल में भी नहीं बढ़ पाता।

राष्ट्र के उद्धार मे अपना, समाज का और धर्म का उद्धार है, इस सत्य को जो राष्ट्रसेवक स्वीकार करता है उसे निश्चय कर लेना चाहिए कि स्वदेशी वस्त्र या स्वदेशी वस्तु का व्यवहार करने में स्वदेश का, समाज का और धर्म का उद्धार है और विदेशी वस्त्र एवं अन्य वस्तुओं के व्यवहार में स्वदेश, समाज और स्वधर्म का नाश समाया हुआ है। धार्मिक दृष्टिकोण से इस बात पर विचार करोगे तो तुम्हारा निश्चय अधिक दृढ़ हो जाएगा।

राष्ट्र का गौरव बढ़ाना प्रत्येक राष्ट्र-प्रजा का पवित्र दायित्व है, और इस दायित्व का भान प्रजा को, अपने त्याग द्वारा कराना तथा देश को गौरवान्वित करना राष्ट्रपति का दायित्व है।

राष्ट्रोद्धार के लिए आवश्यक है कि प्रजा राष्ट्रधर्म के आगे नतमस्तक हो और राष्ट्रनायक का आदेश शिरोधार्य करे।

—.o.—

प्रशास्ता–स्थविर–संरक्षक–स्थविर

[पसत्था थेरा]

गुरुदेवो भव

प्रशास्ता–स्थविर मानवसमाज का संस्कर्ता है। वह जैसी शिक्षण–संस्कृति मानव हृदय में उतारेगा, मानवसमाज की भावी घडन वैसे ही होगी।

जनता के जीवन में धर्मभावना जागृत रखने के लिए शिक्षा-प्रचार एक अमोघ साधन है। शिक्षाप्रचार द्वारा राष्ट्र, समाज और धर्म के बंधन शिथिल हो जाते है या छिन्न–भिन्न हो जाते हैं। शिक्षा का ध्येय भी बंधन से मुक्त होना है–'सा विद्या या विमुक्तये।'

मानवसमाज पराधीनता, अज्ञान, निर्बलता, निस्तेजता, वासना आदि बंधनों से बँधा है। वह विषम परिस्थितियों से जकड़ा है। उसकी अन्तरात्मा जकड़ी रहती है। इन समस्त बंधनों से छूटना विद्या है। यही शिक्षा है, यही तालीम है।

जिसके द्वारा शरीर रोगों एव दुर्बलताओं से छूटता है, बुद्धि अज्ञान और कुत्सित विचारों से छूटता है, हृदय कठोरता और कुसस्कारों से छूटता और आत्मा कर्म के आवरण से छूटती है, वह शिक्षा है, विद्या है, तालीम है।

सच्ची शिक्षा आत्मा की नैसर्गिक रस-वृत्ति को लंपटता से मुक्त करती है। शक्ति को मद से मुक्त करती है। आत्मा को कृपणता एवं अहंकार के पंजे से मुक्त करती है।

वास्तविक शिक्षा आत्मा की नैसर्गिक विशेषताओं को, उनकी विरोधी शक्ति एव विकृतियों से मुक्त करके, निखालिस विकसित स्वरूप प्रदान करती है। इसीसे मानवजीवन का संस्कार होता है और वह संस्कार मानव को परमोच्च पद पर प्रतिष्ठित करता है।

मानवसमाज को शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक शिक्षा-दीक्षा देनेका उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य प्रशास्ता-संरक्षक अर्थात् माता, पिता, शिक्षक, धर्मगुरु आदि स्थविरों के सुपुर्द है। प्रशास्ता-स्थविर मानवसमाज का सस्कर्त्ता है। वह जैसी शिक्षा-सस्कृति मानवहृदय में उतारेगा, मानवसमाज की भावी घड़न वैसी ही होगी। इस प्रकार मानवसमाज का भविष्यनिर्माण प्रशास्ता-स्थविर के हाथ मे है।

जिसके हाथ मे विश्व का महत्तम कार्य है, वह प्रशास्तास्थविर कौन हो सकता है? उसमे कितनी और किस प्रकार की यो

होनी चाहिए ? इस संबन्ध में विचार करना आवश्यक है। इस संबन्ध में शास्त्रकार कहते है—

'प्रशासति—शिक्षयन्ति ये ते प्रशास्तार:—धर्मोपदेशकास्ते च ते स्थिरीकरणात् स्थविराश्चेति प्रशास्तृस्थविरा:।'

अर्थात्—राष्ट्र की भावी प्रजा को जो शिक्षा-दीक्षा देता है, और जो धर्मोपदेशक या शिक्षक अपनी शिक्षा के प्रभाव से शिष्यों को कर्त्तव्यपरायण बनाता है, वह प्रशास्तास्थविर कहलाता है। 'प्रशास्ता' की व्याख्या में जो गूढ अर्थ छिपा है वह विशेष रूप से विचार करने योग्य है।

राष्ट्र की भावी प्रजा, आज के नन्हे-नन्हे बालक है। बालकों को छुटपन मे, घर मे, माता-पिता द्वारा शिक्षण-संस्कार मिलता है। घर के शिक्षण में, भले ही अक्षरज्ञान न हो, फिर भी बाल्यकाल में माता-पिता द्वारा जो शिक्षण दिया जाता है, वह बालक के जीवन का भविष्य-निर्माण करता है और इस कारण वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

बाल्यकाल में माता-पिता ही बालकों के सच्चे प्रशास्ता-शिक्षक है। पाठ्यपुस्तकों द्वारा,शिक्षको द्वारा या धर्मगुरुओ द्वारा जो भी शिक्षण दिया जाता है, वह बाल-मानस में इतना जीवन-स्पर्शी नहीं होता, जितना माता-पिता द्वारा शैशवकाल मे प्रदत्त सस्कार होता है। जिन्होने बाल-मनोविज्ञान का अध्ययन किया है, वे सब इसी नतीजे पर पहुँचे हैं।

बाल-मानस इतना अधिक निर्मल होता है कि जैसे संस्कारों की छाप उन पर अंकित की जाय, वह बहुत शीघ्र, स्थायी रूप से अंकित हो जाती है।

बालजीवन को शिक्षित और सुसंस्कृत बनाने के लिए घर ही पाठ्यपुस्तक है। माता-पिता ही बालक के सच्चे शिक्षक हैं और सुन्दर आचार-विचार ही उनकी सच्ची शिक्षा है। जैसे नीति-नियम, बर्त्ताव, धार्मिक विचार माता-पिता के होंगे, वैसे ही संस्कार उनके बालक में प्रतिबिम्बित होंगे। स्पष्ट है कि भावी प्रजा के-जीवन की संस्कारिता का उत्तरदायित्व माता-पिता पर अत्यधिक है।

'माता-पिता सौ शिक्षकों का काम देते हैं' यह कथन जितना सत्य है, उतना ही आदरणीय और आचरणीय है। मगर माता-पिता अगर सुशिक्षित और सुसंस्कृत हों तभी उनकी प्रजा वैसी बन सकती है। अतएव माता या पिता का पद प्राप्त करने से पहले ही मनुष्य को शिक्षित और संस्कारी बनना आवश्यक है।

बालक का जीवन अनुकरणीय होता है। वह बोलते-चालते, खाते-पीने, और कोई भी काम घर का और विशेषत माता-पिता का ही करता है। क्या बोलचाल, क्या व्यवहार, क्या और क्या अन्य प्रवृत्तियाँ, उन्हीं लोगों की सदा उसके आसपास रहते हैं और जिनके

स्नेह का भाव उपज आता है। अतएव प्रत्येक संरक्षक को क्या यही नहीं सोचना चाहिए कि अगर हम बालकों को संस्कृत,सदाचारी, विनीत और धार्मिक बनाना चाहते हैं तो हमारे घर का वातावरण किस प्रकार का होना चाहिए ?

जहाँ माता छिन-छिन में गालियाँ बड़बड़ाती हो, पिता माता पर चिढ़ता रहता हो, और उद्धततापूर्ण व्यवहार करता हो, वहाँ बालक से क्या आशा की जाय ? हजार यत्न करो, बालक को डराओ, धमकाओ, मारो, पीटो, फिर भी वह सुसंस्कारी या विनयी नहीं बन सकता।

बालक को डरा-धमकाकर या मारपीट कर अथवा ऐसे ही किसी अन्य हिंसात्मक उपाय का अवलम्बन लेकर नहीं सुधारा जा सकता। इन उपायों से वह एक दुर्गुण-हिंसात्मक प्रवृत्ति करना और सीख लेगा।

बालकों को डराने-धमकाने वाले माता-पिता पूछेंगे-इसमें हिंसा कहाँ है ?

यद्यपि इस प्रवृत्ति में साफ हिंसा है-बालहत्या है, फिर भी विशेष स्पष्टीकरण के लिए भय की प्रणाली का जरा पृथक्करण कीजिए —

जब बालक रोता है, मचलता है या कहा नहीं मानता, तो सर्वप्रथम उसके हितेच्छुओं को उसके प्रति आवेश आता है। आवेश आते ही मुख से गालियों की वर्षा आरंभ हो जाती है।

और लात-घूँसे आदि से उस अनजान और बेचारे बालक पर हमला किया जाता है।

इस क्रिया मे आवेशवृत्ति हिंसा है, गाली देना हिंसा है और मारपीट करना हिंसा है। यह क्रिया आदि से अन्त तक हिंसा के सिवा और क्या है ? ❀

आवेश आते ही मनुष्य भले-बुरे का भान भूल जाता है। इस भाव के अभाव में भाषा का विवेक चुक जाता है। इतने से खैर नहीं होती। कभी-कभी तो इसका परिणाम अत्यन्त भयंकर होता है-इतना भयंकर कि माता-पिता को आजीवन पछताना पड़ता है। वास्तव मे यह प्रणाली बालकों के लिए लाभ के बदले हानि उत्पन्न करती है। इससे बालक गालियाँ देना सीखता है, मारपीट करना सीखता है और सदा के लिए ढीठ बन जाता है। ढिठाई में से और अनेक दुर्गुण फूट पड़ते हैं। इस प्रकार बालक का सारा जीवन बर्बाद हो जाता है। यह सब हिंसा नहीं है तो क्या अहिंसा है ? इसमें द्रव्यहिंसा है, भावहिंसा है, आत्महिंसा है, परहिंसा है।

विवेकशील माता-पिता भय की प्रणाली का उपयोग नहीं करते। वे आवेश पर अंकुश रखते हैं। बालक की परिस्थिति सम- झने का यत्न करते हैं। उसे सुधारने के लिये घर का वात- सुन्दर बनाते है। ऐसा करने से माता-पिता के जीवन

❀ प्रश्नव्याकरण सूत्र में, हिंसा के नाम गिनाते भी हिंसा बतलाया गया है। बीहनक का अर्थ है- को डराना हिंसा है।

विकास होता है और बालक के जीवन का भी। वे भलीभांति जानते है कि बालक अगर रोता है तो उसका इलाज डराना नही है, रोने के कारण को खोज कर दूर करना है। इसी प्रकार बालक में अगर कोई दुर्गुण उत्पन्न हो गया है तो उसे वह अपनी ही किसी कमजोरी का फल समझते है-समझना चाहिए। संरक्षक की किसी दुर्बलता के बिना बालक में दुर्गुण क्यों पैदा हो? इस अवस्था में उसके वास्तविक कारण को खोज निकालना और दूर करना ही उसका इलाज है। समझदार माता-पिता ऐसे प्रसंग पर धैर्य से काम लेते है।

भय डराने वाले और डरने वाले के अन्तरंग या बहिरंग मर्म पर अनेक प्रकार से आघात करता है। अतएव यह स्पष्ट है कि भय हिंसा रूप है। आत्मा के गुणो का घात करने वाली प्रवृत्ति करना हिंसा है और जो ऐसी प्रवृत्ति करता है वह हिंसक है, यह जैनागम का विधान है।

आजकल माता-पिता को सद्धर्म की उन्नत भावना की तालीम लेने की आवश्यकता है। सामाजिक जीवन मे देखा जाता है कि आज के माता-पिताओं के मन कामवासना से वासित है। दोनोंके मन क्लेशके रंग मे रंगे हुए है और बात बात मे वे अश्लील वाक्-प्रहार, और अवसर मिले तो ताडन-प्रहार करते भी सकोच नही करते। जहाँ यह स्थति है वहाँ भला शिक्षा और संस्कृति का सरक्षण किस प्रकार हो सकता है?

माता-पिता का जीवन जब तक शिक्षित, संस्कृत और आदर्श न बने तब तक भविष्य की प्रजा मे सुसंस्कारो का सिचन

नहीं हो सकता। अतएव भविष्य-कालीन प्रजा की भलाई के लिए माता-पिता को अपना जीवन संस्कारमय अवश्य बनाना चाहिए।

माता-पिता को और समाज को यह न भूल जाना चाहिए कि आज का बालक ही भविष्य का भाग्यविधाता है।

बालक जैसे-जैसे बड़ा होता जाता है, वैसे-वैसे वह व्यावहारिक एवं धार्मिक शिक्षा लेने के योग्य बनता जाता है। बालक घर की शाला छोड़कर पाठशाला जाता है और वहां अक्षर ज्ञान सीखता है। एक और अक्षरज्ञान सीखकर बालक व्यावहारिक शिक्षा ग्रहण करता हैं और दूसरी ओर धर्मस्थानकों में जाकर निस्पृह धर्मगुरुओं से नीति और धर्म की शिक्षा लेता है। इस प्रकार दोहरी शिक्षा रूपी दो पंखों से वह उन्नति के असीम व्योम में विचरण करने का सामर्थ्य प्राप्त करता है और जीवन की समग्रता साधता है।

पाठशाला में माता-पिता का स्थान शिक्षक को मिलता है। शिक्षक, बालकों को अपना पुत्र समझकर शिक्षा दे, तो वह अपना शिक्षकधर्म निभाता है। बालक अपनी किशोर अवस्था में शिक्षा का संचय करता है। आजकल की शिक्षाप्रणाली उसे शिक्षा-दान देकर ही कृतार्थ मान लेती है, मगर एक अत्यन्त आवश्यक बात की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। वह
शिक्षा को जीवन में मूर्त्त रूप देना। शिक्षा को सि
स्थान देने से, उसे जीवनव्यवहार में एकरस न

व्यर्थ हो जाती है। ऐसे लोग शिक्षित भले ही कहलावें, पर संस्कारी कहलाने का दावा नहीं कर सकते। शिक्षा उनके मस्तिष्क का वोझ मात्र होती है; जव कि वह जीवन का संस्कार वननी चाहिए। अतएव शिक्षक को इस ओर पूरा लक्ष्य देना चाहिए। इसी मे वालक के भावी जीवन का भाग्योदय है।

वालकों का भावी जीवन सुखी वनाने के लिए व्यावहारिक शिक्षा की जितनी आवश्यकता है उससे कहीं अधिक आवश्यकता धार्मिक शिक्षा की भी है। इसका कारण यह है कि जीवन मे प्रवत्ति को जितना स्थान है उससे अधिक महत्वपूर्ण स्थान निवत्ति को प्राप्त है। जीवन का अंतिम ध्येय परिपूर्ण निवृत्ति है। प्रवृत्ति क्लेश एवं व्याकुलता को जन्म देती है, निवृति से निराकुलता, संतोष, शान्ति और एक प्रकार के अनुभवगम्य सुख की उपलब्धि होती है। अतएव निवृत्तधर्म की शिक्षा ग्रहण करनेके लिए वालकों को धर्मशिक्षकों के समीप जाना चाहिए। बचपन मे धर्मोपदेश सुनने से निवत्ति-शिक्षा का अक्षरज्ञान प्राप्त होता है।

माता-पिता के, शिक्षक के और धर्मशिक्षक के जो संस्कार वाल्यावस्थामे,वालकमें दृढ़ होजाते है,वे बड़ी उम्रमें दृढ नहीं होते। वालक प्रतिक्षण किसी न किसी प्रकार के संस्कार अपनाता रहता है। उसका हृदय दर्पण के समान है, जिस पर सामने आने वाली प्रत्येक वस्तु प्रतिबिम्बित होती ही है। ऐसी अवस्था में हम अगर वालक का हृदय अभीष्ट संस्कारों से युक्त न वनाएँगे तो वह 'अनभीष्ट' संस्कारों को ग्रहण करेगा। वड़ी उम्र मे अगर वे

अनभीष्ट-अवांछनीय संस्कार दृढ़ हो गये तो उन्हे दूर करके, नये वांछनीय संस्कारों का आरोपण करना अत्यन्त कठिन होगा। उस हालत में दोहरा परिश्रम करना पडेगा-प्रथम तो पुराने संस्कारों का, जो बद्धमूल हो चुके है, उन्मूलन करना, फिर नवीन संस्कारों का बीज बोकर उनका सिंचन करना,पनपाना और अंकुरित करना। अगर पुरातन अवांछनीय सस्कारों की जड़ गहरी चली गई हो तो उन्हे जड़ से उखाड़ फैकना अशक्य हो जाता है। उस हालत में माता-पिता पश्चात्ताप करते है, झल्लाते है, अपने भाग्य को कोसते है और अन्त मे हाथ मलते रह जाते हैं। अतएव दूरदर्शी माँ-बाप और शिक्षक को उचित है कि वह बालक में, बचपन से ही धार्मिक संस्कारों का बीज बो दे। बचपन मे बोये हुए संस्कार बड़ी उम्र मे सुदृढ़ हो जाएँगे और फिर कुसंस्कारों को बालक के हृदय में स्थान न मिलेगा।

राष्ट्र की भावी प्रजा मे बालक-बालिका, कुमार-कुमारिका, पुत्र-पुत्री-दोनों का समावेश होता है। जैसे बालकों को व्यावहारिक एव धार्मिक शिक्षा देने की आवश्यकता हैं, उसी प्रकार बालिकाओं को भी व्यावहारिक एव धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिए। शिक्षा के सबधमें पुत्र और पुत्री मे भेदभाव रखना उचित नहीं है। बालिकाओं एवं कुमारिकाओं की शिक्षा का तौर-तरीका कुछ भिन्न होसकता है, शिक्षा के कुछ विषयों मे
होसकती है-होनी चाहिए भी, परन्तु उनकी शिक्षा
मिलना चाहिए जो बालकों और कुमारो की।

जो शिक्षक पुत्र और पुत्री, बालक और बालिका मे, शिक्षा-दीक्षा के विषय मे, भेदभाव रखता है, ऊंची-नीची दृष्टि से देखता है, वह प्रशास्ता की हैसियत से अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है।

शिष्य की योग्यता के अनुकूल शिक्षा का विभाजन करना और शिक्षा के विपर्यास से बचना स्थविर का मुख्य कर्त्तव्य है। बालकों को बालोपयोगी, कुमारों को कुमारोपयोगी, युवकों को युवकोपयोगी, प्रौढ़ों को प्रौढ़ोपयोगी एवं वृद्धों को वृद्धोपयोगी तथा बालिकाओं को बालिकोपयोगी, कुमारिकाओं को कुमारिकोपयोगी युवतियों को युवती-उपयोगी, प्रौढ़ाओं को प्रौढ़ा-उपयोगी, और वृद्धाओं को उनके उपयोगी, शिक्षा-दीक्षा देना, शिक्षा की साधन-सामग्री जुटाना, उसकी समुचित व्यवस्था करना, इन सब बातोंकी ओर प्रशास्ता स्थविर को विशेष ध्यान देनेकी आवश्यकता है। इस प्रकार का विभाजन न करके, सब धान बाईस पसेरी तोला जायगा-एक-सी शिक्षा दी जायगी तो शिक्षा के विषय में बड़ा विसंवाद पैदा हो जायगा। उस हालत मे शिक्षा का स्वाभाविक सुन्दर परिणाम हासिल न होकर अनिष्ट परिणाम की ही संभावना होगी। अतएव सब प्रकार के विसंवाद से बचने के लिए योग्यतानुसार शिक्षा का विभाजन करना प्रशास्ताओं का मुख्य कर्त्तव्य है।

बालकों को जैसे मानसिक और धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता है, उसी प्रकार शारीरिक और वाचनिक शिक्षा की भी है। केवल मानसिक शिक्षा से शारीरिक एवं वाचनिक शक्तियों का विकास नहीं हो जाता और अकेली मानसिक शिक्षा फलीभूत भी

नहीं होती। यह स्मरण रखने योग्य है कि जीवन का सर्वाङ्गीण विकास, मनुष्य की विभिन्न शक्तियों के विकास पर निर्भर करता है। इस ओर ध्यान देना प्रशास्ताओं का दूसरा कर्त्तव्य है।

प्रशास्ताओं का तीसरा कर्त्तव्य है—कुमार-कुमारिकाओं के लिए बौद्धिक शिक्षा के साथ औद्योगिक शिक्षा का प्रबंध करना। जब बौद्धिक एवं औद्योगिक शिक्षा का मेल होगा तभी शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य पूरा होगा। उद्योगशिक्षा के विना बौद्धिक शिक्षा पंगु है-एकांगी है।

प्रशास्ताओं का चौथा कर्त्तव्य है—धार्मिक-आध्यात्मिक शिक्षा की व्यवस्था करना। जीवन के व्यावहारिक कार्यों का श्रम हलका करने के लिए आध्यात्मिक शांति की अपेक्षा होती है। और आध्यात्मिक शांति धर्मशिक्षा से मिलती है। अतएव बालक-बालिका में धार्मिक संस्कार दृढ करने के लिए धर्मशिक्षा की समुचित व्यवस्था अवश्य होनी चाहिए।

प्रशास्ताओं का पांचवाँ कर्त्तव्य यह है कि शिक्षा-दीक्षा देने में किसी प्रकार का जातिभेद या वर्णभेद या सामाजिक अंतराय हो तो उसे दूर करने की चेष्टा करे। जातिभेद और वर्णभेद यह सब शिक्षा के बाधक तत्त्व है।

प्रशास्ताओं का छठा कर्त्तव्य है—शिक्षा मे भय, तर्जना या मारपीट को जरा भी स्थान न मिलने देना। क्योंकि भयभीत या हतोत्साह विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण नहीं कर सकता, अगर कोई कर भी सकता है तो भय के भूत से डर कर भूल जाता है

विद्यार्थियों के हित के लिए, शिक्षा के क्षेत्र में से भय का सर्वथा बहिष्कार किया जाना चाहिए।

प्रशास्ताओं का सातवाँ कर्त्तव्य यह है कि विद्यार्थियों को पढ़ने, समझने, याद करने में सुगम, सरल और बोधप्रद पाठ्य पुस्तकों द्वारा, जो राष्ट्रीय भाषा में लिखी हों, शिक्षा दें जिससे विद्यार्थियों का थोड़े समय में अधिक लाभ हो सके। और राष्ट्रीय गौरव की अभिवृद्धि हो।

प्रशास्ताओं का आठवाँ कर्त्तव्य—विद्यार्थियों के चरित्रगठन पर ध्यान देना। शिक्षा की साधना करने वाले विद्यार्थी कभी२ कामोद्दीपन करने वाले साधनों का उपयोग करने लगते हैं और इस प्रकार उनकी साधना में महान् विघ्न उपस्थित हो जाता है। अतः कामोत्तेजक वातावरण उत्पन्न न होने देना और कामशामक वायुमण्डल पैदा करना प्रशास्ताओं का कर्त्तव्य है।

प्रशास्ताओं का नौवाँ कर्त्तव्य है कि वे विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा न दें जो केवल तोता रटन्त हो और दिमाग को खोखला बनाने वाली हो। विद्यार्थियों की तर्कशक्ति और अवलोकनशक्ति बढ़ाने वाली, साथ ही विषय का तलस्पर्शी ज्ञान कराने वाली शिक्षा की ओर ध्यान देना चाहिए।

प्रशास्ताओं का दसवाँ कर्त्तव्य है—विद्यार्थियों को ऐसी शिक्षा देना जिससे उनमें अपने राष्ट्र, राष्ट्रधर्म, राष्ट्रनेता के प्रति सन्मान का भाव उत्पन्न हो। अपनी मातृ-भूमि के प्रति, अपने समाजके प्रति, अपने धर्म के प्रति, कर्त्तव्यभावना जागे। और

उन्हें इस बात का ज्ञान हो जाय कि राष्ट्र, समाज एवं देश की रक्षा तथा सेवा के लिए कितनी सहिष्णुता और त्यागभावना सीखने की आवश्यकता है।

प्रशास्ताओं का ग्यारहवाँ कर्त्तव्य है—विद्यार्थियों की मानसिक अभिरुचि का सूक्ष्म निरीक्षण करना। किस विद्यार्थी की किस विषय की ओर अधिक रुचि है, उसका मानसिक झुकाव किस विषय की तरफ है, इस संबन्ध में भलीभांति जाँच करके उसे वही विषय मुख्य रूप से देना चाहिए—उसी में पारंगत बनाना चाहिए। शेष उपयोगी विषय उसके लिए गौण हो जाने चाहिए। इस तरह एक विषय में विद्यार्थी को विशारद बनाना और अन्य विषयों में उसकी रुचि पैदा करना आवश्यक है। जान पड़ता है, इस प्रकार की शिक्षा-योजना से विद्यार्थियों का पर्याप्त विकास होगा और उनका जीवनव्यवहार सुन्दर रूप से चलेगा।

सारांश यह है कि कुमार कुमारिकाओं को कैसी शिक्षा, कब और किस प्रकार देनी चाहिए? इत्यादि शिक्षा संबन्धी प्रकार का विचार करना और तदनुकूल व्यवस्था प
का कर्तव्य है।

प्रशास्ता, एक क्षण के लिए भी यह बात
ऊपर सम्पूर्ण राष्ट्र, समाज और धर्म भी

भावी प्रजा में स्वदेश के प्रति
शिक्षाप्रणाली ही ग्राह्य होनी चाहि

तो रटाया जाय पर अपने देश का और अपने गाँव का ठीकर पता ही न हो, यह शिक्षाप्रणाली का दूषण है। सच्ची शिक्षा वही है जिससे राष्ट्रीय हित का साधन हो। शिक्षा के ऊपर ही राष्ट्र का उत्कर्ष निर्भर है। जिस शिक्षा से राष्ट्रीय हितमें कोई सहायता नहीं मिलती, वह भी कोई शिक्षा है।

आज भारतवर्ष की शिक्षाप्रणाली ऐसी दोषपूर्ण है कि वह राष्ट्रीय भावना का विनाश कर देती है। शिक्षण-शालाओ के अधिकारियो की इच्छा भी यही रहती है कि देश की भावी प्रजा विदेशी जीवन व्यतीत करे और उसमें राष्ट्रीयभावना पनपने न पावे। अपनी इस अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए वे ऐसी शिक्षा-प्रणाली की योजना करते हैं, जो राष्ट्रीयता का पोषण न करे वरन् परदेश के प्रति गौरव का भाव ही विद्यार्थियों के हृदय मे उत्पन्न करे। सचमुच राष्ट्र के लिए यह दुर्भाग्य की बात है। जो लोग भविष्य में देशके भाग्यविधाता बनने वाले है, उन्हें राष्ट्रीयता की भावना से कोरा रखना देश के प्रति कितना बड़ा अन्याय है? ऐसी शिक्षा असल मे शिक्षा ही नहीं है। यह तो भावी प्रजा को गुलामी की बेड़ी में जकड़ने के लिए फंदा है। इस फंदे को काट फेंकना प्रशास्ता का काम है। जो विदेशी जिस देश को अपने पैरों तले दबाये रखना चाहते है वे भला प्रजा को राष्ट्रीयता की शिक्षा क्यों देने लगे। ये लोग जिस ध्येय से भारत मे आये हैं, उसकी पूर्ति के लिए गुलाम बनाने वाली शिक्षा पद्धति जारी करे यह स्वाभाविक है। पर प्रशास्ताओं को सावचेत होना चाहिए।

एक जमाना था जब समग्र भारतवर्ष में अपनी प्रजा को राष्ट्रीय शिक्षा दी जाती थी। इसी कारण राष्ट्र का मस्तक ऊँचा रहता था। जनता भी सुखशान्ति में रहती थी।

[श्रोता-पहले के व्यापारियों के पास इतनी धनसम्पत्ति नहीं थी, जितनी आजकल के व्यापारियो के पास है। मारवाड़ प्रान्त में हजारों लखपति रहते हैं। यहाँ मजदूर भी सोने के गहने पहनते हैं। पहले लोग अपने ही गाँव में रहते और नमक-मिर्च बेच कर किसी कदर गुजर चलाते थे। आज अंग्रेजी शिक्षा के प्रताप से लोग बम्बई, कलकत्ता, मद्रास जैसे विशाल नगरों मे पहुँच कर बड़ा व्यापार करते है। क्या यह अंग्रेजी शिक्षा का प्रताप नहीं है ?]

इस प्रश्न के उत्तर मे मै पूछना चाहता हूँ कि मारवाड़ के बडे-बडे व्यापारियों ने बम्बई,कलकत्ता आदि शहरों में जाकर जो धन-सम्पत्ति पाई है वह सब भारत की है या विदेश की ?

'है तो भारत ही की।'

तो इसका अर्थ यह हुआ कि जो लोहू समस्त शरीर में चक्कर लगा रहा था, वह एक जगह स्थिर होकर जम गया है। अर्थात् एक पैर तो खम्भे के समान मोटा हुआ और दूसरा बेंत की पतली छडी के समान पतला। अगर किसी के शरीर की ऐसी दशा हो जाय तो क्या वह स्वस्थ और सुन्दर कहलाएगा ? नहीं। जब शरीर के किसी एक अंग का लोहू दूसरे अग में चला जाता है और वह दूसरा अग रक्तहीन हो जाता है, तब वह

विकास नहीं वरन् विकार गिना जाता है। इस विकार का परिणाम है, शरीर की सबलता नष्ट हो जाना और निर्बलता पैदा हो जाना।

यही बात धन के संबन्ध में है। गरीबो की रोटी छीनकर जो धन एकत्र किया जाता है उससे समाज और देश में अस्वस्थता एवं निर्बलता उत्पन्न होती है। ऐसे समाज या राष्ट्र मे भाँति-भाँति के विकार आ घुसते है। भला ऐसे धन के संचय से क्या लाभ हुआ? धन बढ़ने के साथ दूसरों के कल्याण की भावना बढ़े तब तो धन का बढ़ना कहा जा सकता है। जहाँ रुपया-पैसा बढ़ता है पर जनकल्याण की भावना नहीं बढ़ती वहाँ धन की वृद्धि या हानि दोनों बराबर है।

आजकल लोग तन, मन बेचकर धन इकट्ठा करने का उद्योग करते है। धनवान् हो जाते हैं तो फूले नहीं समाते। पर जब तन और मन अत्यन्त निर्बल हो जाते है तब यदि कोई गरीब, मगर सबल मनुष्य उनके सामने लट्ठ तानकर खड़ा हो जाता है तो निस्तेज पैसे वाले घबरा जाते है और दूसरे से अपनी रक्षा कराते है। यह दयनीय दशा भी क्या सुखजनक है?

धनवान् लोग धन के बल से अपनी रक्षा की आशा करते हैं। पर वास्तव मे तन और मन को सबल बनाये बिना धन मे रक्षा नही हो सकती। तन और मन को सबल बनाने के लिए शिक्षा की आवश्यकता है। अपनी पौर्वात्य शिक्षण-संस्कृति तन-मन को सबल-स्वस्थ बनाने की सर्वप्रथम आवश्यकता अनुभव

करती है। जब कि आज की पाश्चात्य शिक्षण-संस्कृति तन-मन को बेचकर भी धन कमाने का शिक्षण देती है। अगर तन-मन सबल और स्वस्थ होगा तो धन दौड़ता चला आएगा। इसके विपरीत अगर तन और मन अस्वस्थ एवं निर्बल हुए तो मुट्ठी का धन भी तो नहीं टिक सकता। और अगर टिके भी तो उनका कोई उपयोग नहीं हो सकता। जिस राष्ट्र में तन-मन को स्वस्थ और सबल बनाने की शिक्षा-दीक्षा नहीं दी जाती और केवल धनार्जन के लिए तन-मन को निछावर करना सिखाया जाता है, उस देश का उत्थान नहीं पतन होता है। भारतवर्ष को गुलाम बनाने की यह चाबी मेकाले जैसे शासनकारों ने अपने हाथ में ली और भारत के सपूतों को गुलामी की शिक्षा देकर चिरकाल के लिए गुलाम बना डाला। भारत के कोने-कोने में, आज बेकारी का जो भूत भारतीयों को भयभीत करके त्रास पहुचा रहा है, उसका मुख्य कारण आज की दोषपूर्ण शिक्षाप्रणाली ही है। आज भारत का जीवनधन-युवकहृदय पाश्चात्य शिक्षाप्रणाली के फेर में पड़कर नेस्तनाबूद हो गया है। आज का नौजवान, जिसमें गर्म खून, असीम उत्साह और स्फूर्ति होनी चाहिए, निर्बल, निस्तेज, साहसहीन, अकर्मण्य, हतोत्साह और निराश नजर आता है। इसका कारण आज की दूषित प्रणाली के अतिरिक्त और क्या है? आधुनिक शिक्षाप्रणाली में मानसिक शिक्षा और औद्योगिक शिक्षा को तनिक भी स्थान नहीं है। जब कि प्राचीनकाल में, भारत में शारीरिक, मानसिक, औद्योगिक, संगीत, वाद्य आदि

कलाओं की शिक्षा दी जाती थी और इन कलाओं मे कुशल मनुष्य ही शिक्षित माना जाता था। जिसने बहत्तर कलाएँ सीखी होंगी वह क्या कभी धन के लिए दूसरों का मुँह ताकेगा ? क्या वह नौकरी के लिए दर-दर भटकता फिरेगा ? बहत्तर कलाओं का पडित स्वतंत्र व्यवसाय करता है। कलाशिक्षण से उसका दिल दिमाग ही ऐसा बन जाता है कि वह किसी की नौकरी या गुलामी नही कर सकता। कलाविद् का मानस सदा स्वाधीन होता है। वह किसी का वशवर्त्ती होकर नहीं जी सकता। आज का ऐम. ए. (M. A.) भले ही समस्त कलाओं का अधिपति (Master of arts) गिना जाता हो, पर वास्तव मे वह एक भी कला का पूर्ण पंडित नहीं होता। हाँ, वह कला की विवेचना करने में एक बड़ा सा पोथा रच सकता है, पर उसके जीवन में 'कला' का स्पर्श तक नही होने पाता। यही कारण है कि वह कलाओं का मास्टर पचास साठ रुपया मासिक की कमाई के लिए दर-दर भटकता है। सच तो यह है कि आजकल कला की शिक्षा दी ही नही जाती, केवल गुलामी की शिक्षा दी जाती है। 'गुलामी-शिक्षा' के बदले कला की शिक्षा का प्रबंध करना प्रशास्ता स्थविर का प्राथमिक और आवश्यक कर्त्तव्य है। म० गांधी के दिग्दर्शन में हमारे यहाँ राष्ट्रीय विद्यापीठों की जो व्यवस्था की गई थी वह शिक्षा के क्षेत्र में एक बहुमूल्य कदम था। यद्यपि उसमे भी कई-एक सुधारों को अवकाश था। खेद है कि अब उस ओर उतना अधिक ध्यान नही दिया जा रहा है। स्वतंत्र भारत शिक्षापद्धति में आमूल सुधार करेगा।

यह कौन नहीं जानता कि आज की प्रजा ही कल देश की भाग्यविधात्री होगी ? पर साथ ही यह जानने की जरूरत है कि उसे उन्नत बनाकर भाग्यविधात्री बनाने में ही मानवजाति का कल्याण है।

स्त्रीशिक्षा के संबन्ध में थोड़ा कहा जा चुका है। यहाँ इतना और कह देना आवश्यक है कि मनुष्य समाज के भाग्यचक्र की धुरी स्त्री जाति है। उसे शिक्षित बनाने में थोड़ी-सी भी उपेक्षा सह्य नहीं होनी चाहिए। 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः' अर्थात् जहाँ स्त्रीजाति की पूजा होती है वहाँ देवता रमते हैं, इस ऋषिवचन में स्त्रीजाति को सन्मान देने की जो उदात्त भावना विद्यमान है उसे मूर्त्त रूप देना प्रत्येक राष्ट्रप्रेमी का पवित्र कर्त्तव्य है।

स्त्री और पुरुष दोनो जीवन-रथ के चक्र हैं। इन दोनों चक्रों में से अगर एक चक्र असमान, टूटा-फूटा हुआ तो जीवनरथ आगे नहीं बढ़ सकता। आज हमारे जीवन-व्यवहार में अनेक प्रकार के जो विसंवाद दिखाई पड़ते हैं, उनका एक महत्त्वपूर्ण कारण जीवनरथ के चक्रों की असमानता भी है।

जैसे पुरुष जाति को शिक्षा-दीक्षा देने की समुचित व्यवस्था करना आवश्यक है, उसी प्रकार स्त्री जाति के लिए भी शिक्षा-दीक्षा की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए।

आज की बालिका भविष्य की माता है। यह कहने

है ! भविष्य में जो माता के पद को गौरवान्वित करेगी, आज की उस बालिका को कैसी शिक्षा मिलनी चाहिए, यह विचार करना प्रशास्ता का काम है। बालिकाओं को सिलाई, गुंथाई, अक्षरज्ञान, भाषाज्ञान, व्यवहारिकज्ञान की शिक्षा की आवश्यकता है पर पाकविद्या, बालसंगोपन आदि का सक्रिया ज्ञान देने की उससे भी अधिक आवश्यकता है। स्त्री जाति में सहिष्णुता, कोमलता और सेवापरायणता का गुण प्राकृतिक है। प्रशास्ता को चाहिए कि वह ऐसी योजना करे जिससे उनके प्राकृतिक गुणों का विकास हो और उनका मानवजाति की भलाई में उपयोग हो !

स्त्री शक्ति एक प्रचण्ड शक्ति है। इस प्रचण्ड शक्ति के सदुपयोग से विश्व का कल्याण साधा जा सकता है। नारी-जागरण के बिना राष्ट्रोद्धार की कल्पना भी मूर्त्त रूप धारण नही कर सकती। जो महाशक्ति सम्पूर्ण राष्ट्र का उद्धार कर सकती है उसे दबाये रखने से उद्धार के बदले कितना अधःपतन होता है, यह बात आज के स्त्रीजीवन पर दृष्टि डालने से स्पष्ट हो जायगी। आज का स्त्रीजीवन पुरुषों के फौलादी पंजे के नीचे पामर बन गया है। आज स्त्रीजीवन मानों पुरुषों की वासना तृप्त करने का ही एक जीवित पुतला सा बन रहा है। सामाजिक रूढ़ियों के अंधकार में उस जीवन का तेज विलीन हो गया है। वास्तव में, स्त्री में भी पुरुष के समान बुद्धि, शक्ति और तेजस्विता हैं। भारतीय साहित्य में, स्त्रीजाति के त्याग और उनकी अनुपम सेवा के अनेक आदर्श दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं। स्त्रीजाति की उपेक्षा

रके अब तक कोई भी राष्ट्र समुन्नत नहीं बन सका है और नहीं बन सकता है। स्त्रीजाति के सहयोगसे ही पुरुष जाति स्वपर का कल्याण कर सकती है। अतएव स्त्रीजाति की शक्ति विकसित करने के साधन प्रस्तुत करना, इस संबन्ध में जनता का पथ प्रदर्शित करना और स्त्रीशक्ति का राष्ट्रोद्धार के महान् कार्य में उपभोग करना प्रशास्तास्थविर का कर्त्तव्य है।

आज स्त्रीजाति की हीनावस्था पर दृष्टिपात करने से प्रत्येक राष्ट्रप्रेमी को दुख हुए विना न रहेगा। अगर इस हीनावस्था के कारणों की जाँच की जाय तो मालूम होगा कि स्त्रीजाति को समुचित शिक्षा न देना ही इस हीनावस्था का प्रधान कारण है।

भले ही थोड़े शहरों में, बालिकाओं की शिक्षा का थोड़ा-बहुत प्रबंध हो, परन्तु ग्रामों में, जहाँ नारीजाति का जीवन सेवा पर अवलबित है, जरा भी व्यवस्था नहीं होती। इस कारण वे एक गाँव से दूसरे गाँव तक अकेली नहीं जा सकतीं और छोटे-से छोटे कार्य में भी उन्हे पुरुष की अपेक्षा रहती है। वह दूसरे का मुँह ताकती बैठी रहती हैं। इस परनिर्भरता का अन्त करने का एकमात्र उपाय यही है कि उन्हें व्यावहारिक शिक्षा दी जाय।

जहाँ कहीं नगरों में कन्याओं को शिक्षा दी जाती है वह प्राय जीवनविकास की नहीं वरन् जीवनविकार की शिक्षा होती है। आज स्त्रीशिक्षा मे विलासिता ऐसी आ घुसी है कि उसने शिक्षा का हेतु ही नष्ट कर दिया है। अकसर इस शिक्षा से शिक्षित कन्या सेवा और संयम की मूर्त्ति बनने के बदले विलासिता की

मूर्ति बन जाती है। यह स्त्रीशिक्षा की प्रणाली का दोष है। प्राचीन काल में स्त्रीशिक्षा का अभाव था, यह बात नहीं है। उस समय स्त्रियाँ 'स्त्रीशिक्षा' प्राप्त कर, पण्डित बनकर सुन्दर जीवन-व्यवहार चलाती थीं और आदर्श दाम्पत्य-जीवन का उदाहरण सर्वसाधारण के सामने उपस्थित करती थीं। इतना ही नहीं, बड़े-बड़े पंडितों के शास्त्रार्थ में निर्णायिका बनने का गौरव भी उन्हें प्राप्त होता था। कहते हैं, मंडन मिश्र और शंकराचार्य जैसे दिग्गज विद्वानों के शास्त्रार्थ में मंडनमिश्र की पत्नी 'भारती' निर्णायिका बनी थी। कई दिनों के शास्त्रार्थ के पश्चात् विदुषी भारती ने निर्णय दिया था—'शंकराचार्य जीते और मेरे पतिदेव पराजित हुए।' इस दृष्टान्त से उस समय की स्त्रीजाति की प्रामाणिकता और विनीतता पर भी प्रकाश पड़े बिना नहीं रहता।

आज अगर कोई स्त्री साधारण पढ़ना-लिखना सीख लेती है तो क्या पूछना बात! उसके खान-पान में, रहन-सहन और पहनावे में एकदम परिवर्तन हो जाता है। वह अपने आप को पढ़ी-लिखी साबित करने के लिए विदेशी महिलाओं की भाँति विलासिता और फैशन में डूब जाती है। अंध-अनुकरण की वृत्ति शिक्षा का कुफल है।

दाम्पत्य जीवन को सुखमय बनाने के लिए स्त्रियों को स्नेह, सद्भाव, सादगी, नम्रता, सस्कारिता आदि सद्गुण अपनाने चाहिए। अपनी प्राचीन संस्कृति स्त्रीजाति को संस्कार और शि-

क्षण द्वारा स्त्रीजीवन को सुखमय बनाने की सलाह देती है। आज पाश्चात्य शिक्षा ने अपनी प्राचीन संस्कृति का आदर्श विनष्ट कर दिया है। आज वह शिक्षा दी जा रही है जिससे स्त्रीधर्म के अभ्युदय के बदले स्त्रीधर्म के आदर्श का अधःपतन हो रहा है।

प्रचलित शिक्षाप्रणाली में परिवर्त्तन करके जब तक राष्ट्रीय पद्धति द्वारा प्रजा को शिक्षित-दीक्षित न किया जायगा तब तक राष्ट्र के कल्याण की क्या आशा की जा सकती है? मगर यह तब हो सकता है जब राष्ट्र का शिक्षाविभाग प्रशास्ता स्थविर के हाथों मे सौंप दिया जाय और उसी की सूचनाओं के अनुसार शिक्षा की व्यवस्था की जाय। शिक्षाविभाग जब राष्ट्र के सूत्रधारों के हाथ में आएगा तभी हमारी अगली पीढी राष्ट्रीय शिक्षा का महत्व और प्रचलित शिक्षापद्धति की बुराइयां समझ सकेगी। तब प्रशास्त स्थविरों की प्रेरणा से सारी प्रजा राष्ट्रोद्धार के कार्य में जुटेगी और राष्ट्र का मुख उज्ज्वल होगा।

५

कुल-स्थविर

[कुल-थेरा]

भारतवर्ष विशाल देश है। इसी कारण सदा से यहाँ विभाजित शासनप्रणाली चली आई है। एक ही शासक सब कार्यों को भली-भाँति सम्पन्न नहीं कर सकता, इस दृष्टि से शास्त्र में कुलधर्म की और उसकी व्यवस्था करने वाले कुलस्थविर की व्याख्या की गई है।

कुलस्थविर दो प्रकार के होते हैं—(१) लौकिक कुलस्थविर (२) लोकोत्तर कुलस्थविर। कुलधर्म की समुचित व्यवस्था करने वाला अर्थात् किन कार्यों से कुल की उन्नति और किन से अवनति होगी, इस बात का विचार करके विधि निषेध करने वाला कुल-स्थविर कहलाता है। सच्चा कुलस्थविर कुलधर्म की रक्षा के लिए प्राणों का उत्सर्ग कर देता है, मगर कुल को कलंक नहीं लगने देता। कुलस्थविर अपने कुल को प्रकाशित करने वाला सच्चा कुलदीपक होता है।

दीपक खुद जलता है पर दूसरों को न जलाकर प्रकाशित

करता है, इसी प्रकार जो स्वयं कष्ट सहता है पर कुल के किसी मनुष्य को कष्ट न पहुँचने देकर अपने जीवन-प्रकाश से सम्पूर्ण कुल को प्रकाशित करता है, वह वास्तव में कुलदीपक कहलाता है। कुलदीपक बनना सरल नहीं है। कुलदीपक बनने के लिए अपने आपको तपाना होता है—जलाना पड़ता है और सारे कुल को उज्ज्वल करने के लिए आत्मज्ञान का प्रकाश प्रकट करना पड़ता है। जो व्यक्ति केवल बड़प्पन पाने के लिए कुल-स्थविर का विरुद धारण करता है, कुलोद्धार के लिए कोई काम नहीं करता वह कुलदीपक नहीं वरन् कुलांगार है। कुलांगार कुल को खाक कर डालता है, जब कि कुलदीपक कुल में उजाला करता है। सच्चा कुलदीपक ही कुल-स्थविर बन सकता है।

कुलस्थविर का मुख्य कर्त्तव्य है—सारे कुल मे कुटुम्बभावना का बीजारोपण करना। जिस कुल मे कुटुम्बभावना नहीं होती वह दीर्घजीवी नहीं होता। कुटुम्बभावना कुलोद्धार का मूल है। कुल में कुटुम्बभावना लाने के लिए कुलस्थविर को कुल के प्रत्येक सदस्य का सार-सँभाल करनी पड़ती है। प्राचीन काल में, ओसवालों मे कुलस्थविर पंच कहलाता था। ओसवालों को किस प्रकार रहना चाहिए, कैसा व्यवहार करना चाहिए और कुलधर्म की रक्षा के लिए किन-किन उपायों की योजना करनी चाहिए, आदि बातें वही पंच या कुलस्थविर तय करते थे। जिन्होंने यह कुलव्यवस्था भंग की है उन्हें उसका दुष्परिणाम भी भोगना पड़ा है। कुलस्थविर की मौजूदगी में, कुल के सिद्धान्तो से विरुद्ध मांस

भक्षण और मदिरापान आदि दुर्व्यसनों का सेवन करने का तथा कुल की मर्यादा भंग करके बालविवाह, वृद्धविवाह, अनमेल विवाह आदि अनुचित कार्य करने का किसी को साहस नही होता था। अगर कोई कुल-मर्यादा भंग करता था तो उसे समुचित दंड दिया जाता था और उसका पूरी तरह अमल किया जाता था। कुलस्थविर इस बात का पूर्ण ध्यान रखते थे कि कुल-मर्यादा का संरक्षण हो कुल की उत्तम रीतियों का यथावत् पालन हो। कुलस्थविर पद का गुरुतर भार उठाना साधारण पुरुष के लिए सरल नहीं है। जिसने कुल की प्रतिष्ठा कायम रखने के योग्य अपना व्यक्तित्व बना लिया है वही व्यक्ति कुलस्थविर बन सकता है। वही कुलधर्म को दिपा सकता है।

पहले की तरह कुलस्थविर की व्यवस्था न होने से आज कन्याविक्रय, वरविक्रय, बालविवाह, वृद्धविवाह और अनमेल-विवाह आदि अनाचार हो रहे हैं। इतना ही नहीं, वरन् इन कुलनाशक विवाहों मे बहुत-सा अंधाधुन्ध खर्च किया जाता है। आज समाज की जो अधोदशा दिखाई देती है उसका मूल कारण खोजा जायगा तो ज्ञात होगा कि योग्य कुलस्थविर न होने से ही यह राक्षसी रिवाज अपना अस्तित्व रख रहे है और इनके साथ ही अनेक नवीन बुराइयां पैदा होती जा रही है, जिनके कारण कुलधर्म खतरे मे पड़ता जाता है।

कुलस्थविर के अभाव में, प्रत्येक कुल मे बेहूदे खर्च, बेहूदे व्यवहार और दिखावा बढ़ता जाता है। किसी समय दो-तीन

सौ रुपये में विवाह का खर्च वाखूबी चल जाता था, आज कुल-धर्म की अव्यवस्था के कारण दो-तीन हजार खर्च करने पर भी कार्य नहीं चलता। कुल में निरर्थक खर्च बढ़ जाने से समाज में बेकारी बढ़ गई है। समाज का अधिकांश भाग गरीब है। वह विवाह का भारी खर्च बर्दाश्त नहीं कर सकता। नतीजा यह होता है कि उसे अविवाहित ही रहना पड़ता है। लाचारी से स्वीकार किया जाने वाला अविवाहित जीवन प्रायः भ्रष्ट हो जाता है और समाज मे पापाचार का कुफल समाज और कुल को भोगना पड़ता है।

कुल की व्यवस्था अगर ठीक हो तो कुल में बालविवाह आदि बुराइयाँ कैसे घुस सकतीं हैं? कुल को उज्ज्वल बनाने वाला कुलस्थविर हो तो हजारों पर पानी फेर कर विलासिता का बीजा-रोपण करने वाले और सदाचार के शत्रु वेश्यानृत्य आदि घृणित रीति-रिवाज कैसे चालू रह सकते हैं? जहां भावी प्रजा में इस प्रकार कुसंस्कारों का सिंचन किया जाता है वहाँ कुलोद्धार की क्या आशा की जा सकती है? भावीप्रजा में सत्संस्कार डालना कुलस्थविर का काम है।

सम्पूर्ण कुल की व्यवस्था करना और कुल को उन्नत वाले रीतिरिवाजों को प्रचलित करना कुलस्थविर का . है। कुलस्थविर को इस बात की भी सावधानी . कि कुल का खानपान, रीतिनीति, और आजकल कुलधर्म का ठीक-ठीक पालन न

विवाह के इच्छुक युवकों को मजबूर होकर अविवाहित जीवन बिताना पड़ता है और साठ-साठ वर्ष के जराजीर्ण बूढ़े, धन के बल पर आशाभरी कुमारिकाओं के साथ शादी कर लेते हैं। वृद्ध थोड़े ही दिन मे जीवनलीला समाप्त करता है और वह बालिका, युवावस्था से पहले ही वैधव्य का भोग बन जाती है। इस प्रकार एक ओर वृद्धो के विवाह होते हैं और दूसरी ओर नन्हे-नन्हे बालक विवाह की फॉसी पर लटका दिये जाते हैं। इन दोनों कारणों से समाज मे विधवाओं की संख्या बढ़ रही है। इन विधवाओं में कुछ तो इतनी अबोध होती है कि उन्हें अपनी स्थिति का भाव ही नहीं होता ऐसी अबोध कुमारिकाओं को विधवा बनाने का कारण कुलमर्यादा का उल्लंघन और कुल-स्थविर के संरक्षण का अभाव है।

आज बारात सजा कर, माल उड़ाने के लिए, बड़ी-बड़ी बड़ाई मारने वाले स्थविर बरसाती मेंढकों की तरह निकल पड़ते हैं, मगर यह कौन देखता है कि विवाह न्याययुक्त है या नहीं? प्रीतिभोज तो पहले भी होते थे, वे प्रेम बढ़ाने के लिए। उस समय जबर्दस्ती प्रीतिभोज नही कराये जाते थे। आज जो जातिय भोज है वे जैसे जाति का दंड वसूल करने के लिए कराये जाते है। लोक जातीय भोज करने के लिए अनुचित दबाव डालते हैं, पर इस बात का विचार ही नहीं करते कि बाद में उसकी क्या दशा होगी? जो स्थिति जातिभोज की है, वही बल्कि उससे बदतर मृत्युभोज की है। मृत्युभोज से कुल की धनसम्पत्ति और शरीर-

सम्पत्ति का अत्यन्त ह्रास होता है। पर सच्चे कुलस्थविर के
अभाव यह समझावे कौन ? कुलस्थविर न होने से जहाँ-तहाँ
कुल की मर्यादाएँ भग हो रही हैं खोटे रिवाज बढ़ रहे हैं, फिजूल
खर्ची बढ़ती जाती है। कुल की ठीक व्यवस्था न होने से समाज
टुकड़े-टुकड़े मे बँटता जाता है और सामाजिक जीवन दुःखमय
हो रही है।
बनता जाता है। कुलधर्म की छीछालेदर
के लिए लौकिक कुलस्थविर
लौकिक कुल का उद्धार करने
की आवश्यकता है, उसी प्रकार लोकोत्तर कुलस्थविर की भी
आवश्यकता रहती है। साधुसमाज लोकोत्तर कुल है। साधु-
समाजके नियम-पालनकी सारी जिम्मेवरी गुरु पर रहती है अतः
एव गुरु लोकोत्तर कुलस्थविर है। शिष्यवर्ग को आचारधर्म का
शिक्षण देना, उनकी उचित आवश्यकताएँ पूर्ण करने के लिए
साधन जुटाना, यह गुरु का कर्त्तव्य है। शिष्यों को विशिष्ट शिक्षा
देकर विद्वान् बनाना भी गुरु का ही कर्त्तव्य गिना गया है।
अगर कोई गुरु अपने दस-बीस शिष्यों को ही शिक्षा देता है
और शेष शिष्यों को शिक्षा नहीं देता तो वह गुरु कुलस्थविर नहीं
कहला सकता। जो कुलस्थविर बालकों को बालक के योग्य और
वृद्धों को वृद्धों के योग्य शिक्षा देता है और उनकी योग्यतानुसार
सार-सभाल रखता है, उस कुलस्थविर का कुल सदा पवित्र
रहता है।

जैसे लौकिक कुलस्थविर कुलधर्म के पालन करने-कराने की
[illegible] करता है, वैसे ही जो गुरु अपने कुल के सब

साधुओं को कुलधर्म के पालन में दृढ़ बनाता है वह लोकोत्तर कुलस्थविर है। लोकोत्तर कुलस्थविर के बनाये नियमों का भंग करने वाले के लिए दंडविधान की भी व्यवस्था है। उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। इनमें दसवाँ प्रायश्चित्त अंतिम दंड है। यह दंड उसे दिया जाता है जो कुल में रहता हुआ कुल का नाश करता है, संघ में रहता हुआ संघ को मटियामेट करता है अथवा गण में रहकर गण का नाश करता है।

साधु अगर महाव्रतों का समूल भंग करे तो उस के लिए बड़ी से बड़ी सजा नवीन दीक्षा देना है। पर गण में भेद करने वाले के लिए दसवाँ प्रायश्चित्त है। इसका प्रधान कारण यह है कि व्यक्तिगत अपराध करने वाला साधु अकेला आप ही भ्रष्ट होता है, मगर कुल, संघ या गण में भेद डालने वाला सारे कुल,या गणको हानि पहुँचाता है। अतएव याद रखनां चाहिए कि भूलचूक से भी कुल को छिन्न भिन्न करने वाला साधु दुष्कर्म का बन्धन करता है और सम्पूर्ण कुल का अपराधी बनता है।

कुल में कुलीनता प्रकट करना और कुल को उज्ज्वल बनाना कुलस्थविर का धर्म है। कुलदीपक बनने के लिए कुलस्थविर को आत्मभोग देकर अपने ज्ञान के प्रकाश से दूसरों को आलोकित करना चाहिए। ऐसे व्यक्तित्व से विभूषित पुरुष ही कुलस्थविर के विरुद के योग्य होता है।

——:o:——

गणस्थविर—गणनायक

[गण–थेरा]

मानवकुल अनेक छोटे-मोटे कुटुम्बों में बँटा हुआ है। इन सब कुटुम्बों में परस्पर प्रेमसम्बन्ध तथा योग्य व्यवस्था कायम करने के लिए सब कुटुम्बों का एक केन्द्रीय मंडल स्थापित किया जाता है। वह मंडल 'गण' कहलाता है। इसे 'कुटुम्बसमूह' भी कह सकते हैं। गण का मुख्य काम कुलों की मर्यादा की रक्षा करना और उन्हें संगठित कर एक विशाल शक्ति का निर्माण करना होता है। 'गण' में विभिन्न कुलों की विभक्त शक्ति संयुक्त हो जाती है। जो व्यक्ति इस गणतन्त्र का निरीक्षण और संचालन करता है वह 'गणस्थविर या गणनायक' कहलाता है।

प्राचीन काल में गणतन्त्र की प्रणाली अच्छी खासी प्रचलित थी। भगवान् महावीर के समय अठारह गणराज्य थे और वह सब आपस में संगठित होकर रहते थे। इन अठारह गणराज्यों का स्थविर-गणनायक-राजा चेटक था।

जैनशास्त्रों में चेटक का जो परिचय मिलता, उससे स्पष्ट

आभास मिलता है कि गणस्थविर कैसा होना चाहिए और उसका कर्त्तव्य क्या है ?

मगध देश के उत्तर में, जो आजकल विहार प्रान्त कहलाता है, वैसाली नामक प्रसिद्ध नगरी थी। यह नगरी गणराज्य के ही अन्तर्गत थी। इस गणराज्यका अधिनायक चेटक था। उस समय वैशाली गणराज्य के समान और भी अनेक गणराज्य थे; जिनमें कुसीनारा, पावा, कुण्डपुर आदि प्रधान थे। यह सब गणराज्य गणतंत्र या प्रजातंत्र (Republic) राज्य थे। उस समय इन गणराज्यों का नियंत्रण और संचालन चेटक के हाथ में था।

इन गणतंत्रों का संचालन आधुनिक प्रजातंत्र राज्यों की भाँति होता था। इन सब गणराज्यों में क्षत्रिय कुल के मुखियों की सभा (कौंसिल) मुख्य काम करती थी। इस गणतंत्र में जो-जो जातियाँ सम्मिलित थीं, वे अपनी ओर से एक प्रतिनिधि चुन-कर कौंसिल में भेजती थीं।

गणतंत्र की सभा की व्यवस्था बहुत सुन्दर थी। इस सभा मे एक शासनप्रज्ञापक नियुक्त होता था, जिसका काम था आये हुए सदस्यों को उनका स्थान बतलाना। सदस्यों की उप-स्थिति पर्याप्त होने पर-कोरम पूरा होने पर-ही कोई भी प्रस्ताव सभा के समक्ष उपस्थित किया जाता था। यह क्रिया 'नत्ति' (ज्ञप्ति) कहलाती थी। विज्ञप्ति होने के अनन्तर प्रस्तुत प्रस्ताव पर विचार-विनिमय किया जाता था। तदनन्तर उसे स्वीकृत करने या अस्वीकृत करने के संबंध मे, प्रत्येक सदस्य से तीन

वार पूछा जाता था। सभी सदस्य सहमत होते तो प्रस्ताव स्वीकार कर लिया जाता था। मतभेद होने की हालत में मतगणना की जाती थी। गणतंत्र की इस सभा में नियमोपनियम भी बनाये जाते थे और उनका बराबर पालन किया जाता था।

गणतंत्र की सभा बहुमति से काम करती थी। सभा जिस प्रस्ताव को स्वीकृत कर लेती उसे कार्यरूप में परिणत करने वाला गणनायक (Chief Magistrate) कहलाता था। गणनायक को सहायता देने के लिए उपराजा, भंडारी, सेनापति आदि भी नियत किये जाते थे। गणतंत्र का न्यायालय आदर्श ढंग का था, जहाँ सस्ता, सच्चा और शीघ्र न्याय किया जाता था। गणतंत्र के सदस्यों की जहाँ सभा होती थी वह स्थान (Town hall) कहलाता था।

गणनायक चेटक गणराज्यों की सुव्यवस्था करने में कुशल था। सभी गणराज्यों के अधिनायक उसका नेतृत्व स्वीकार करते और उसकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे। चेटक स्वयं आढ्य, दीप्त और अपराभूत था। वह न किसी से दबता था, न किसी से प्रभावित होता था। उसकी अप्रतिम प्रतिभा के सभी कायल थे। उसके आगे सब को झुकना पड़ता था। प्रजा को सुखी बनाने के लिए वह कोई शक्य प्रयत्न बाकी नहीं रखता। अन्याय का वह प्रचण्ड विरोध करता था और न्याय के सामने सदा नम्र रहता था। इन्हीं सब गुणों के कारण दूसरे गणराज्यों के अधिनायक उसकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे।

एक बार महाराज चेटक को, गणनायक की हैसियत से एक अत्यन्त अप्रिय कर्त्तव्य अदा करना पड़ा था। उसे मगध के सम्राट् के साथ युद्ध करना अनिवार्य हो गया था। बात यह थी कि महाराज चेटक के भानेज मगधसम्राट् कोणिक ने अपने छोटे भाई विहल्लकुमार के हिस्से मे आया हार और हाथी छीनने के लिए उसके साथ अन्याय किया। विहल्लकुमार घबरा कर चेटक की शरण आया। चेटक ने विहल्लकुमार की बात शान्तिपूर्वक सुनी और कहा—कोणिक अन्याय के मार्ग पर है। हार-हाथी पर उनका किंचित् भी अधिकार नही है।

मगधाधिपति कोणिक और विहल्लकुमार—दोनों राजा चेटक के भानेज थे। एक न्याय-पथ पर था, दूसरा अनीति की राह पर। अन्याय का प्रतीकार करना और न्याय का संरक्षण करना गणतंत्र का उद्देश्य है। आज गणतंत्र के उद्देश्य की रक्षा का प्रसंग उपस्थित था। चेटक ने सब गणराज्यों के अधिनायकों को एकत्र किया और गणधर्म के सामने उपस्थित कर्त्तव्य को अदा करने के लिए समझाया सभी गणतन्त्रों के अधिनायकों ने, सब कुछ होम कर भी अन्याय का प्रतीकार और शरणागत के प्रति न्याय करने का निश्चय किया।

गणनायक चेटक के आगे आज दोहरा कर्त्तव्य था। एक ओर गणधर्म की रक्षा और दूसरी तरफ भनेजों की रक्षा। मगधपति कोणिक भी भनेज था और विहल्लकुमार भी भनेज था। पर चेटक ने अन्याय के लिए तत्पर कोणिक का पक्ष न लिया, यद्यपि

वह प्रचंड शक्ति का धनी था। उसने निःसहाय विहल्लकुमार का पक्ष लिया, जिसमें बड़ा खतरा और बड़ी मुसीबतें थीं। मगर वह वीर ही कैसा जो खतरे से डरता है और मुसीबतों से डरकर भाग खड़ा होता है? यह घटना स्पष्ट बतलाती है कि चेटक कितना निष्पक्ष और न्यायप्रिय था।

गणनायक चेटक ने दो-तीन बार कोणिक से आपस में समझौता करने का संदेश भेजा, पर सत्ता के उन्माद में भ्रात-प्रेम को भूल जाने वाले मगधपति कोणिक ने गणनायक चेटक की शांतियोजना को दुर-दुरा दिया और युद्ध के लिए तैयारी करने का संदेश भेज दिया। अन्त में भयंकर युद्ध हुआ। युद्ध का परिणाम भले ही कोणिक के पक्ष में रहा, मगर गणतंत्र ने अपने उद्देश्य के संरक्षण के लिए जूझकर अपनी प्रतिष्ठा की रक्षा की। चेटक ने भी गणनायक का कर्त्तव्य पालन किया।

उल्लिखित उदाहरण से स्पष्ट जान पड़ता है कि गण[illegible] कैसा होना चाहिए? उसका क्या कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व है?

गणनायक को गणतंत्र की व्यवस्था के लिए और उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए समय और शक्ति का भोग चढ़ा देना पड़ता है।

गणनायक को अपने साथी [illegible] [illegible] हृदय जीतने के लिए प्रेमभाव [illegible] पड़ता है और व्यक्तित्व प्रकट करना पड़ता है।

[illegible]

करने के लिए सदा सक्रिय प्रयत्न करना पड़ता है।

गणनायक को गणधर्म की रक्षा के लिए प्राणों का भी उत्सर्ग करने योग्य आत्मबल प्राप्त करना पड़ता है।

गणनायक को गणधर्म की प्रतिष्ठा के सामने स्वजन का भी मोह त्यागना पड़ता है।

गणनायक को गणतंत्र की शरण में आये हुए किसी भी आश्रित की तन, मन और धन से रक्षा करनी पड़ती है।

गणनायक को सब प्रकार के पक्षपात का त्यागकर निष्पक्ष और न्यायप्रिय होकर रहना पड़ता है।

गणनायक को प्रजा के सुख-दुख की रात-दिन चिन्ता करनी पड़ती है।

हम यह देख चुके है कि गणधर्म की प्रतिष्ठा के लिए गणनायक को कितना आत्मत्याग करना पड़ता है। पर इसके अतिरिक्त गणधर्म को अधिक व्यवस्थित और व्यवहार्य बनाने के लिए कई बार उसमे योग्य परिवर्त्तन भी गणनायक को करना पड़ता है। 'गण' के नियमों मे परिवर्त्तन और परिवर्धन करने से बहुत बार गणतन्त्र के राजा अप्रसन्न भी हो जाते है। पर सच्चा गणनायक किसी की प्रसन्नता देखकर फूलता नहीं और किसी की अप्रसन्नता से घबराता भी नहीं है। गणनायक की चिन्ता का मुख्य विषय होता है—गणधर्म का व्यवस्थित संचालन और नियंत्रण। प्रजा के सुख चैन की चिंता गणनायक सदा किया करता है। जो गणनायक 'गणतन्त्र' में अमुक परिवर्त्तन

करने से अमुक नाराज हो जायगा,' यह सोचकर योग्य परिवर्त्तन करते डरता है, वह 'गणस्थविर' पद को सुशोभित नहीं कर सकता। सच्चा गणनायक वही है, जो देश-काल के अनुसार नियमोपनियमों में योग्य परिवर्त्तन करके गणतन्त्र को व्यवस्थित बनाता है और ऐसा करके प्रजा की सुखशांति बढ़ाता है।

लोग गर्मी के मौसिम में बारीक कपड़े पहनते हैं और सर्दी के दिनों में मोटे तथा गर्म कपड़े पहनते हैं। ऋतु के अनुसार यह परिवर्त्तन कल्याणकारी माना जाता है। इसी प्रकार गणतन्त्र में भी देश-कालानुसार परिवर्त्तन करना आवश्यक है। जिस कुए से पुराना पानी नहीं निकलता और जिसमें नवीन नहीं आता, उसका पानी सड़ जाता है। वृक्ष अपने पुराने पत्ते फेंक देते हैं और नये धारण करते हैं। वृक्ष में अगर यह परिवर्त्तन न हो तो वह टिक नहीं सकता। जैनशास्त्रों में प्रत्येक वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक मानी गई है। सारांश यह है कि गणनायक को गणधर्म में योग्य परिवर्त्तन करना चाहिए।

गणनायक अगर समय को पहचानने वाला और विवेकवान् न हुआ तो गणधर्म में किया गया परिवर्त्तन व्यवस्था के बदले अव्यवस्था उत्पन्न कर देता है। अतएव गणनायक को देश-काल का ज्ञान अवश्य होना चाहिए। सच्चा गणस्थविर गणतन्त्र की बिखरी शक्ति को एकत्र करके गणधर्म की व्यवस्था में उसका उपयोग करता है। वही गणस्थविर पद को विभूषित करता है।

७

संघ-स्थविर

[संघ--थेरा]

जैन-शासन में संघ का महत्वपूर्ण स्थान है। संघ अर्थात् जैनशासन। साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका, यह चतुर्विध संघ है। चतुर्विध संघ की प्रतिष्ठा में धर्म की प्रतिष्ठा है क्योंकि चतुर्विध संघ पर ही धर्म टिका है। जिस संघ को आधार बना कर धर्म टिका है, वह संघ ही अगर शिथिल होगा तो धर्म में शिथिलता कैसे न आएगी? इसीलिए संघ की सुव्यवस्था कायम रखने के उद्देश्य से शास्त्रकारों ने संघस्थविर की आवश्यकता प्रकट की है।

सकल संघ का संचालन करना अर्थात् चतुर्विध संघ की समुचित व्यवस्था करना ही संघस्थविर का प्रधान कर्त्तव्य है।

संघ को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—लौकिक संघ और लोकोत्तर संघ। श्रावक और श्राविका लौकिक संघ के सभ्य हैं तथा साधु और साध्वी लोकोत्तर संघ के। लौकिक संघ-स्थविर लौकिक संघ की व्यवस्था करता है और लोकोत्तर संघ-स्थविर लोकोत्तर संघ की।

संघ में श्रावक और श्राविका का स्थान समान है। दोनों के पारस्परिक सहकार के बिना कोई भी कार्य व्यवस्थित नहीं हो सकता। लौकिक संघ के इन दोनों महत्त्व के अंगों में से कोई एक अंग अगर लँगड़ा बन जाय या बना दिया जाय तो लौकिक संघ स्वयं लंगड़ा बन जायगा। उसकी प्रगति रुक जायगी।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र को जीवन में उतारने के लिए श्रावक और श्राविका दोनों सक्रिय प्रयत्न करें तो लौकिक संघ की उन्नति हुए बिना नहीं रह सकती। लौकिक संघ की व्यवस्था का मुख्य आदर्श लौकिक जीवन को व्यवस्थित और आदर्श बनाना है पर जीवन का आदर्श संघस्थविर के बिना समझावे कौन ?

संघस्थविर अगर संघ के नियमोपनियम के अनुसार संघ की व्यवस्था करे तो संघ उन्नत बनता है। पर संघ की ठीक व्यवस्था करने के लिए स्थविर को अपने निज के जीवन में ज्ञान, दर्शन और चारित्र को स्थान देकर, अपने व्यक्तित्व का निर्माण करना पड़ता है। संघस्थविर जब प्रभावशाली और दूरदृष्टा बनता है, तब संघ प्रगति के पथ पर अवश्य प्रयाण करता है। आज सच्चे संघस्थविर के अभाव में जैसा चाहिए वैसा संघ का विधान दृष्टिगोचर नहीं होता। इस कारण संघ-जीवन भी अव्यवस्थित हो गया है। संघस्थविर के अभाव में श्रावक-श्राविका का जीवन क्षीण हो रहा है। इनका यथोचित विकास नहीं हो रहा है। अतएव संघस्थविर को ऐसी व्यवस्था करना चाहिए जिससे

श्रावक-श्राविका के जीवन का विकास हो सके। इसी लक्ष्य को सामने रखकर संघ का विधान तैयार करना चाहिए। संघस्थविर के समक्ष एक मात्र संघ के हित का दृष्टिबिन्दु ही होना चाहिए। संघस्थविर को द्रव्य, क्षेत्र, काल के अनुसार संघ के विधान में परिवर्त्तन करके संघ के नियमों को व्यवहार में लाना चाहिए और संघ के उत्कर्ष के लिए प्राणपन से उद्योग करना चाहिए।

संघ की उन्नति के लिए सुन्दर संगठन की सर्वप्रथम आवश्यकता है। संघ संगठित होगा तो उसका संचालन ठीक-ठीक होगा इस में जरा भी सन्देह नहीं। संघस्थविर अगर समयज्ञ और धर्मज्ञ न हुआ तो संघ की यथोचित व्यवस्था न हो सकेगी और संघ को क्षति पहुंचेगी।

संघस्थविर को भूलना नहीं चाहिए कि उसका उत्तरदायित्व एक सेनापति से भी अधिक है। सेनापति अगर अवसर-कुशल न हो तो सेना उसके काबू में नहीं रहती। इसी प्रकार अगर संघस्थविर समयज्ञ और धर्मज्ञ न हो तो सारा संघ उल्टे रास्ते पर चला जा सकता है और इससे संघ को भारी धक्का लग सकता है। अतः संघस्थविर प्रभावशाली, दूरदर्शी और निस्वार्थ होना चाहिए।

जैसे लौकिक स्थविर का काम लौकिक संघ की व्यवस्था करना है उसी प्रकार लोकोत्तर संघ-स्थविर का काम लोकोत्तर संघ की सुव्यवस्था करना है। संघ में किसी प्रकार का असंतोष, विग्रह या मनोमालिन्य उत्पन्न न हो, इस बात की संघस्थविर को खूब

सावधानी रखनी पड़ती है। अगर कोई संघ मे भेद करने की या विग्रह पैदा करने की चेष्टा करता है तो उसे दण्ड देने का अधिकार स्थविर को है संघ में शांति कायम करने का प्रयत्न करना स्थविर का मुख्य कर्त्तव्य है। जो पुरुष त्याग और सेवाभाव के साथ सकल संघ का संचालन करता है और संघ की उन्नति के लिए दत्तचित्त रहता है, वह अपने संघस्थविर के पद को उज्ज्वल बनाता है।

८

जातिस्थविर—समाजस्थविर

[जा ति--थे रा]

मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि किसी भी जीवधारी का सूक्ष्म अवलोकन कीजिए, स्पष्ट प्रतीत होगा कि प्रत्येक प्राणी अपना सजातीय सहचर खोजता है। इसी सजातीय साहचर्य से समाज की उत्पत्ति होती है। समाज में रहकर ही प्राणी अपना जीवन सुखमय बनाते हैं। चूँकि मनुष्य सब प्राणियों में अधिक विवेकशाली है अतएव मनुष्यसमाज भी अधिक श्रेष्ठ है। पशुओं के समूह को 'समाज' कहते हैं और मनुष्यों का समूह समाज कहलाता है। भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से समाज का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है।

'मनुष्यजातिरेकैव' इस कथन के अनुसार मनुष्य जाति एक है। इसी प्रकार पशुजाति एक है, पक्षीजाति एक है। किन्तु पक्षी जाति में जैसे मोर, तोता, कौवा आदि तथा पशुजाति में घोड़ा, गाय, भैंस आदि अनेक उपजातियाँ है, इसी प्रकार मानवजाति एक होने पर भी वर्णभेद और जातिभेद के कारण अनेक

उपजातियों में बँटी है। फिर भी यह न भूलना चाहिए कि पशुओं और पक्षिओं में जो उपजातियां है, वह प्राकृतिक हैं, क्योंकि उनकी आकृति आदि में जन्मजात भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य जाति में ऐसा कोई भी प्राकृतिक भेद नहीं है। मनुष्यजाति की वर्णगत भिन्नता सामाजिक सुविधा के लिए कल्पित की गई है।

समाज, व्यक्ति नहीं है। समाज पारस्परिक सुविधा के लिए व्यक्तियों द्वारा निर्मित एक तन्त्र है। अपना और अपनी जाति का तंत्र व्यवस्थित चलाने के लिए तथा अपने द्वारा खड़े किये हुए समाज को सुखी बनाने के लिए समाज की व्यवस्था की गई है।

व्यक्ति और समाज दोनों का तादात्म्य संबन्ध है। व्यक्तियों के आधार पर समाज टिका हुआ है या समाज के सहारे व्यक्ति जी रहा है, यह कहना कठिन है। फिर भी यह निश्चित है कि व्यक्ति के उत्थान में समाज का उत्थान है और व्यक्ति के विनाश में समाज का विनाश सन्निहित है।

सम्पूर्ण समाज का तन्त्र व्यक्ति के हाथ में है। प्रत्येक व्यक्ति समाज का एक अंग है और समाज व्यक्तियों से बना है। प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए कि 'मैं समाज का हूँ और समाज मेरा है, 'जहां इस प्रकार की समाजभावना-ज्ञातिभावना विद्यमान रहती है, समझना चाहिए कि वह समाज या ज्ञाति, प्रगति के पथ पर है।

कुटुम्ब या जाति की सुचारु व्यवस्था करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति वर्ग की स्थापना करता है। पर वह वर्ग अगर कुटुम्ब, समाज या

जाति में वर्गविग्रह या बाड़ाबन्दी खड़ी करते है तो मानना चाहिए कि वर्गों ने कुटुम्ब की, समाज की अथवा जाति की व्यवस्था करने के बदले उनमें अव्यवस्था उत्पन्न की है और वे रक्षण करने के बजाय भक्षण कर रहे हैं। ऐसी अवस्था में समाज या जाति का विधान सुधारना या नया गढ़ना जातिस्थविर का कर्त्तव्य हो जाता है। जो मनुष्य समाजोत्थान के लिए तन-मन-धन से सतत प्रयत्न करता है और समाज का सुचारु रूप से नियंत्रण और संचालन करता है, वह व्यक्ति समाजस्थविर कहलाता है। समाजस्थविर को सदा स्मरण रखना चाहिए कि वह समाज का सेवक भी है और नायक भी है।

समाज और जाति में किस प्रकार के रीति-रिवाजों का प्रचलन करने से जाति या समाज का हित होगा और किन रिवाजों को बन्द करने से समाज का उत्कर्ष होगा, इस बात पर देश-काल के अनुसार विचार करना और उस विचार को क्रिया का रूप देना समाजस्थविर का कर्त्तव्य है।

समाज या जाति में कितने मनुष्य बेकार है, कितने दुखी हैं, कितने अज्ञान है, और किस मार्ग का अवलम्बन करने से जाति मे ज्ञान, उद्योग एवं रोजगार की व्यवस्था हो, आदि समाज के व्यवहार-विषयक एव विवाहविषयक विचारणीय प्रश्नों को सुलझना जातिसेवक का खास कर्त्तव्य है।

परिपक्व बुद्धिवाला, कर्त्तव्यपरायण और विचारशील पुरुष जाति की सेवा बजा सकता है। उतावला, बातूनी और झग-

डाखोर मनुष्य जाति की सच्ची सेवा नहीं कर सकता। समाज मे बहुतेरे व्यक्ति ऐसे होते हैं जो जाति-सेवक को हतोत्साह करने का उद्योग करते है। ऐसे प्रसग पर समता एवं धैर्य धारण कर कर्त्तव्य मे जुटे रहने में ही जातिसेवक की शोभा है।

प्रत्येक जाति में अनुभवी जातिसेवकों की बहुत आवश्यकता है। अगर जाति मे या समाज मे अनुभवी और विचारक व्यक्ति न हों तो अनेक अनर्थ उत्पन्न होने की आशंका रहती है। युवक-हृदय जोश में आकर कभी-कभी ऐसे काम को उठा लेते हैं जिसे समाज अपनाने को तैयार नहीं होता। अतएव साठ वर्ष तक समाज या जाति का अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् ही व्यक्ति समाजसेवक बन कर सफलता प्राप्त कर सकता है।

आज अनुभवहीन मनुष्य भी समाजसेवक का पद ग्रहण करने के लिए तैयार हो जाते हैं। पर जब समाजव्यवस्था करने का दु साध्य कार्य सिर पर आ पड़ता है तब दूर खिसक जाते हैं। अतएव आज अनुभवी जातिसेवक न होने के कारण ही समाज में अव्यवस्था दिखाई पड़ती है।

युवकवर्ग पर आज यह आरोप लगाया जाता है कि वे समाज की स्थिति सबन्धी अज्ञान के कारण समाजोद्धार के नाम पर समाज की हानि कर रहे हैं। पर वास्तव में यह बात एकान्त सत्य नही है। इससे विपरीत अनेक वृद्ध, युवकों की अपेक्षा अधिक विचारहीन और उच्छृखल दिखाई देते है। वे कुरूढ़ियों को पकडे बैठे रहते हैं और 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' की नीति का

अनुसरण करके समाज का अहित करते है। जब युवक उन कुरूढियों का उच्छेद करने की बात कह सकते है तो वे खफा हो जाते है। उन्हे इतना विचार नहीं कि खराब रूढ़ियों के कारण जाति या समाज का अधःपतन हो रहा है। सच्चे समाजसेवक हों तो वे युवकों और वृद्धों को समाजोद्धार का मार्ग बता सकते है; पर जहाँ समाजसेवक का ही अभाव हो वहाँ समाजसुधार की क्या कथा ?

समाजसेवक के अभाव में जहाँ देखो वहीं, युवक बेकार और आदर्शहीन होकर इधर-उधर भटकते फिरते है। सचमुच समाज मे बड़ी दुर्व्यवस्था है। जब तक समाज की यह दुर्व्यवस्था दूर न की जाय और सुव्यवस्था स्थापित न की जाय, तब तक समाज-सुधार की आशा नही रखी जा सकती।

लौकिक जातिस्थविर के समान लोकोत्तर जातिस्थविर भी होता है। लोकोत्तर जाति के नियमोपनियम गढ़ना और उनका पालन कराना, तथा देश-काल के अनुसार लोकोत्तर जाति में संशोधन करके साधुसमाज को प्रगति के पथ पर ले जाना और इस प्रकार जनसमाज का हित साधन करना लोकोत्तर जातिस्थविर का कर्त्तव्य है।

सारांश यह है कि जाति का सुधार करने के लिए प्रत्येक संभव उपाय काम में लाकर समाज का उद्धार करना समाज-सेवक का कर्त्तव्य है। इसी कर्त्तव्यपालन में समाज, जाति और धर्म का कल्याण है।

६

सूत्र स्थविर

(सुत्त–थेरा)

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।

जगत् में ज्ञान के समान कोई भी दूसरी वस्तु पवित्र नहीं है। जल से शरीरशुद्धि की जा सकती है, पर जीवनशुद्धि–आत्मशुद्धि के लिए तो ज्ञान ही चाहिए। ज्ञान अन्तर–चक्षु है। आन्तरिक चक्षु के प्रकाश से अज्ञानान्धकार दूर भागता है और आत्मा की ज्योति प्रकट होती है। जो व्यक्ति अपने ज्ञान–चक्षु का प्रकाश, अज्ञान-अंधकार मे भटकने वाले प्राणियों को दान करता है और उन्हें सन्मार्ग बतलाता है, वह ज्ञानमार्ग का दाता कहलाता है। वह शास्त्र के शब्दों मे 'सूत्रस्थविर' कहा गया है। 'सूत्र' का अर्थ सिर्फ सूत्र को बांच जाना या पढ़ लेना मात्र नहीं है। 'सूत्र' का अर्थ है वस्तुस्वरूप को अपने अनुभव मे उतार कर उसका विवेक करना। जो व्यक्ति सूत्रप्ररूपित वस्तु को अनुभव में उतार कर उसे आत्मसात् कर लेता है और अपने अनुभव का जनसमाज मे प्रचार करता है वह 'सूत्रस्थविर' कहलाता है। 'सूत्र' का पाठ कर लेना और सूत्रज्ञान को अनुभव मे उतारना दोनों भिन्न–भिन्न वस्तु हैं।

सूत्र के शब्दों का पारायण करलेना सरल है,पर उसे अनुभव में उतारना कठिन है। वर्षों के वर्ष लगाकर, अनुभवों का प्रयोग करते-करते, अन्त में सूत्रज्ञानों का विवेक प्रगट होता है। तभी सूत्र की'आत्मा'समझ में आती है। जनसमाज को सूत्रकी आत्मा-रहस्य-सार समझाना और उसके प्रचार के लिए यथाशक्ति उद्योग करना सूत्रस्थविर का कर्त्तव्य है।

सूत्रज्ञान का प्रचार करने के लिए सूत्रस्थविर सर्वप्रथम जनता को श्रद्धा आत्मविश्वास की उपयोगिता समझाता है। श्रद्धा, ज्ञान की भूमिका है। सूत्रस्थविर जब समझता है कि जनसमाज मे ज्ञान की भूमिका-श्रद्धा मजबूत होगई है, तब वह ज्ञान की महत्ता समझाता है। तदनन्तर वह ज्ञान को क्रिया के रूप मे अवतरित करने की प्रेरणा करता है। सूत्रस्थविर बराबर समझता है-श्रद्धा-वाँल्लभते ज्ञानम्' अर्थात् श्रद्धावान् व्यक्ति ही सूत्रज्ञान का अधि-कारी है। जिस व्यक्ति की जिज्ञासावृत्ति जागी नही है, जो सुनने के लिए उत्सुक नही हुआ है, जो सचमुच 'श्रावक' नहीं बना है, वह व्यक्ति ज्ञानोपार्जन किस प्रकार कर सकता है ? अतएव सूत्र-स्थविर सर्वप्रथम, ज्ञान-प्रचार के लिए जनसमाज में श्रद्धाबुद्धि और जिज्ञासावृत्ति जागृत करता है और फिर ज्ञान का उपदेश करता है। अज्ञानी, अश्रद्धालु और संशयात्मा ज्ञान प्राप्त नही कर सकता।

अनुभववृद्ध और ज्ञानवृद्ध सूत्रस्थविर, सूत्रधर्म के यथावत् प्रचार और पालन करने कराने की सदैव चिन्ता रखता है। सूत्र-

ज्ञान का विशेष प्रचार करने के लिए वह जगह-जगह घूम कर उपदेश देता है। अगर कोई जिज्ञासु पुरुष, सूत्रधर्म के संबन्ध में श्रद्धाबुद्धि से किसी प्रकार की शंका करता है तो वह शंका का समाधान करता है। यह सब सूत्रस्थविर के कर्त्तव्य हैं।

आजकल अज्ञानांधकार इतना अधिक फैल गया है कि जन-समाज मे धर्म के प्रति उदासीनता बढ़ती नजर आ रही है। धर्मोद्योत करने के लिए अज्ञान को दूर करने और ज्ञान का प्रचार करने की अत्यन्त आवश्यकता है। ज्ञान की ज्योति जहाँ प्रकट होगी, वहाँ अज्ञान; अश्रद्धा पल भर भी न टिक सकेंगे। पर प्रश्न तो यह है कि सूत्रस्थविर के विना ज्ञान की जोत जगावे कौन ?

सूत्रस्थविर ज्ञानज्योतिर्धर है। ठाणांग और समवायांग सूत्रों का विशिष्ट ज्ञाता ही सूत्रस्थविर कहला सकता जैसे सूर्य के प्रकाश से अंधकार क्षण भर भी नहीं टिक सकता, उसी प्रकार ज्ञानसूर्य का उदय होने पर अज्ञान और अश्रद्धा का आन्तरिक तम क्षण भर मे विलीन हो जाता है।

१०

पर्यायस्थविर--संयमस्थविर

[परियाय--थेरा]

ज्ञानस्य फलं विरतिः ।°

सूत्रज्ञान जब आचार में उतरता है तब जीवन मे संयम प्रकट होता है। और बीस बर्ष पर्यन्त, शास्त्र की मर्यादा के अनुसार संयम की साधना करने के पश्चात्, जो व्यक्ति संयतात्मा बनता है- अर्थात् जो अपने शरीर, मन और बुद्धि को ज्ञानपूर्वक आत्मा के वशीभूत बना लेता है, जितेन्द्रिय बन जाता है, वह महात्मा पुरुष संयमस्थविर कहलाता है।

संयमस्थविर बनने के लिए कितने ही वर्षो तक संतत ज्ञानोपासना के साथ आत्मदमन की विद्या सीखनी पड़ती है। साधक पुरुष जब वर्षो के वर्ष ज्ञान की उपासना में व्यतीत करता है तब उसे ज्ञानसिद्धि प्राप्त होती है और वह साधक स्वयं सशरीर शास्त्र रूप (ज्ञानमूर्ति) बन जाता है तो इसमें क्या आश्चर्य है? मगर अकेली ज्ञानसिद्धि से ही तो जीवनसिद्धि हो नहीं जाती।

जीवन-सिद्धि के लिए ज्ञानसिद्धि के साथ-साथ संयमसिद्धि की भी आवश्यकता रहती है। और संयम की सिद्धि के लिए साधक पुरुष को शास्त्रोक्त यम-नियमों को जीवन में मूर्त्तिमान् बनाना पड़ता है। इस प्रकार जब ज्ञान और संयम का, विचार एवं आचार का मेल होता है तब जीवन-शुद्धि का सौरभ चहुँ ओर फैले और अनेक पुण्यात्माओं के जीवन संयम-सौरभ से सुवासित हों यह स्वाभाविक ही है। पर ज्ञान और संयम का या विचार और आचार का मेल करना हँसी-खेल नहीं है। संयमस्थविर बनना साधारण जन के लिए तो क्या, सब मुनियों के लिए भी कठिन है।

'संयम नो मारग छे शूरां नो' यह गुजराती भाषा की धर्मोक्ति संयमधर्म के पालन की कठिनाई की चेतावनी देती है। संयम का मार्ग कातर पुरुषों का नहीं है। जो व्यक्ति दुश्चर संयम धर्म को जीवन में स्थान देते हैं और ज्ञान-चरित्र का समन्वय करते हैं, वे अपने आपको सिद्ध, बुद्ध और मुक्त बनाते हैं।

पहले जिन दस धर्मों का विवेचन किया गया है उन सब का पर्यवसान संयमधर्म में होता है। संयमधर्म साध्य है, शेष धर्म साधन हैं। संयमधर्म सब धर्मों का सार है। जो पुरुष संयमधर्म को, धर्मों का सार समझकर अपने जीवन में उतारेंगे वे धर्म का अमृत प्राप्त करेंगे और अजर-अमर बनेंगे!

धम्मो मंगलं, धम्मो सरणं।